भारतीय संस्कृति
आधार और परिवेश

भारतीय संस्कृति

आधार और परिवेश

कलानाथ शास्त्री

श्याम प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक श्याम प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

संस्करण प्रथम 1989

मूल्य सौ रुपये

मुद्रक शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कालोनी जयपुर–302003

Bhartiya Sanskriti Adhar Aur Parivesh
By Kalanath Shastri Rs 100

आमुख

संस्कृति पर विविधायामी चिन्तन और लेखन इस शताब्दी की एक विलक्षण देन है। आज संस्कृति शब्द की परिभाषा, परिवेश और विस्तार सब कुछ अंग्रेजी के कल्चर शब्द की अर्थ छाया पर आधारित हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे इसे शायद किसी अन्य शब्द से अभिहित किया जाता रहा होगा। आचार, सदाचार समुदाचार, धर्म संस्कार कुछ भी शब्द रहे हों। 19वी सदी से ही भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यो उसके मूर्त स्वरूपो, उसकी मान्यताओ, उसके इतिहास और धार्मिक आधारो का पुनर्विवेचन अंग्रेजी और भारतीय भाषाओ मे होने लगा था। इस सदी ने संस्कृति के आयामो का और विस्तार दिया तथा कला कौशल, नृत्यगीत, लोकजीवन सबको इसमें समाहित कर लिया। इस प्रकार इसकी परिधि इन सदियो म घटती बढती रही है। यही हाल संस्कृति के प्रति अपनाये जाने वाले दृष्टिकोण और विवेचन शैली का रहा है। पिछले दिनो विशेषकर भारतीय भाषाओ म भारतीय संस्कृति पर जो लेखन हुआ है उसमें से अधिकाश या तो नितान्त अमूर्त, वायवीय दार्शनिक शब्दजाल में उलझाकर विषय को एक असम्प्रेषणीय रहस्यात्मकता देने के मिथ्या गौरव का अहसास कराने वाला रहा है या दूसरी ओर बहुत ही सतही स्तर पर उसे लोकनाट्य, लोकवाद्य और ग्राम गीतो तक ले जाते हुए ऐसे लोक रगो को बिखेरकर ऐसा विवरण देने वाला रहा है जिसका मूल्य दृष्टि से कोई सम्बन्ध नही है। दूसरे शब्दो में भारतीय संस्कृति का चित्र विवेचको ने "जाकी रही भावना जैसी" वैसा ही देखा और चित्रित किया है।

यह मानते हुए कि संस्कृति जीवन के आधारभूत मूल्यो की वह दृष्टि है जो जीवन को एक आन्तरिक अर्थवत्ता और पहचान देती है पाठ्यक्रमों में भी भारतीय संस्कृति पर प्रश्न पत्र रखे जाने लगे। 16 संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था भारत में पनपी धार्मिक परम्पराओ का परिचय यह सब कुछ नई पीढी के लिए जिज्ञास्य माना जाने लगा। इस पर छात्रोपयोगी पाठ्य ग्रन्थ भी लिखे गये। इधर भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यो के बारे में ही नही, अपितु हमारी धार्मिक परम्पराओ उत्सवो, वर्ष गणनाओ, संस्कारो, देवी देवताओ आदि के साथ साथ गगा जमी नदियो गीता जसे ग्रथो और प्राचीन पुराणकथाओ के बारे में भी जन सामान्य की जो जिज्ञासा बढी उसने हिन्दी की पत्र पत्रिकाओ मे इन सभी विषयो पर जो संस्कृति का एक समूचा तानाबाना प्रस्तुत करते हैं विपुल सामग्री उपलब्ध करवाइ।

पत्र पत्रिकाओं आकाशवाणी तथा विभिन्न संस्थाओं के विभिन्न आयोजनों की ऐसी माग पर मैंने भी प्राय इन सभी विषयो पर लेख लिखे, वार्ताएं प्रसारित कीं जिनमें सांस्कृतिक मूल्यों के बोधगम्य विवेचन के साथ साथ हमारी परम्पराओं का यथासंभव तथ्यनिष्ठ विवेचन भी था। यहा यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि संस्कृति के प्रति मेरा दृष्टिकोण पूर्णत ऐतिहासिक रहा है जिसमें इस बात के उल्लेख में कोई हिचकिचाहट नहीं रही कि हमारी मान्यताओं ने किस युग में अनुरूप क्या परिवर्तन देखा। हो सकता है इससे उन पुराणपंथियों को अच्छा नहीं लगा हो जो वेदों और पुराणों को अनादि या ईश्वरोक्त मानकर हमारी परम्पराओं को अनादि, अनन्त, अलौकिक ईश्वरीय या लाखों वर्ष पुरानी मानते हैं। मेरा सोच यह रहा है कि भारतीय विद्याओं में कालक्रम का निर्धारण प्राच्य पाश्चात्य सभी मतमतान्तरों का अनुशीलन कर एक संतुलित दृष्टिकोण से करना आज के युग की माग है। दूसरे निष्पक्ष विवेचक का यह दायित्व है कि वह किसी भी परम्परा के बारे में अपने स्वयं के पूर्वाग्रह न रखकर वस्तुनिष्ठ और संतुलित निष्कर्षों तक पहुंचने का प्रयत्न करे और उसके साथ ही जिज्ञासुओं को यह जानकारी देने में कोताही न करे कि विषय विशेष पर परम्परावादियों का क्या मत रहा है पाश्चात्य विद्वानों ने क्या कहा है और उसे स्वयं क्या लगता है। जाहिर है कि आज की पीढ़ी को तभी आश्वस्त किया जा सकता है जब उसे हमारी संस्कृति का एक ईमानदार, रूढ़िमुक्त और पूर्णत सम्प्रदाय निरपेक्ष बौद्धिक विवेचन प्रस्तुत किया जाए। इनमें जो मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं उनके उज्ज्वल पक्ष को रेखांकित अवश्य किया जाना चाहिए किन्तु धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष के प्रति जरा भी अधिक रुझान हमारे अभिगम की विश्वसनीयता को अवश्य विवादास्पद बना सकता है।

मूलत इस दृष्टिकोण को लेकर लिखे गये आलेखों को अनेक मित्रों कृपालु समीक्षकों तथा विद्वानों ने पसंद किया और चाहा कि इनका पुस्तकाकार प्रकाशन हितकर होगा। उसी का परिणाम है यह संकलन। इसमें हमारे आधारभूत मूल्यों और धार्मिक परम्पराओं का भी विवेचन है तथा उस सांस्कृतिक बाह्य परिवेश का परिचय भी दिया गया है जो हमारी संस्कृति को पहचान देता है या जिसे हम अपनी वर्ष गणनाओं में, अपने पचांगों में अपने उत्सवों में और अपने सामूहिक आचारों में उतरते देखते हैं। यही संस्कृति के आधार और परिवेश हैं। यदि इनसे नई पीढ़ी को इन सभी तत्वों की रूढ़िमुक्त समीक्षा करने की कोई प्रेरणा मिली तो यह श्रम सार्थक माना जायगा।

कलानाथ शास्त्री

विषय सूची

1

ऋतु-चक्र · वर्ष-चक्र

पीठिका

संस्कृति वह सामासिक मूल्यबोध है जो एक देश, राष्ट्र, समाज या वर्ग को एक समान सूत्र मे बांधता है, स्वाभिमान का अमृत पिलाता है और आत्मबोध कराता है। आज संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर शब्द के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त हो रहा है इसलिए 'कल्चर' का जो अर्थ विस्तार है वही संस्कृति शब्द का तात्पर्य माना जाता है। इसी दृष्टि से भारत की सांस्कृतिक पहचान इसके पर्वों, उत्सवो, धार्मिक मान्यताओ, कलादृष्टि, लोक जीवन की आस्थाओ संस्कारो समाज व्यवस्था के आधारभूत मूल्यो, देवी देवताओ के प्रति जनमानस मे बसी श्रद्धा—इन सब घटको का अनुशीलन करके ही आकी जाती है।

हमारे वर्ष भर के पर्व हमारे ऋतु चक्र के विभिन्न उत्सव और समारोह जिस वचारिक मान्यता से उद्भूत हैं वही हमारी संस्कृति का स्वरूप है। हमारे यहा की वर्षगणनाएँ ऋतुओ का विभाजन, मासो तिथियो और वारो की मान्यताएँ—सभी उस सांस्कृतिक परम्परा का अग हैं। ये आस्थाएँ हममे शताब्दियो से जी रही है। सभ्यता और संस्कृति का अन्तर यही तो है कि सभ्यता वह आचार है जिसमे हम जीते हैं और संस्कृति वह जो हममे जीती है।

वर्ष भर का हमारा जीवन चक्र, बाल्यकाल से लेकर वार्धक्य तक विभाजित हमारे सामाजिक कर्तव्य और समाज के सामूहिक अवचेतन को समान रूप से प्रभावित करने वाली हमारी देवमूलक आस्थाएँ इस सांस्कृतिक सौध का जो परिवेश बनाती हैं उसका सामान्य परिचय हमारे सांस्कृतिक मूल्यो की बहुत कुछ सही पहचान करा सकता है।

वर्ष का नवनीत वसन्त

भारत मे सहस्राब्दियो से वर्ष को छ ऋतुओ मे विभाजित किया जाता रहा है। ऋतुओ का राजा और उमग एव उल्लास का प्रतीक वसन्त इस देश मे ही नही विश्व भर मे सर्वोत्कृष्ट ऋतु मानी जाती है। भाति भाति के उत्सव इस ऋतु मे आकर सकेन्द्रित हो जाते हैं। हमारे यहा होली का पर्व वसत का प्रमुख उत्सव है। उससे पूर्व वसन्त पचमी माघ शुक्ल पचमी को मना ली जाती है। ऋतुराज की सवारी आने की दुदुभि वसन्त पचमी से ही क्यो सुनाई देने लगती है इसका कोई तर्कपूर्ण कारण समझ मे नही आ सका है। माघ शुक्ल पचमी तक तो उत्तरी भारत मे कडाके की सर्दी ही रहती है, वसन्त का दूर दूर तक नामोनिशान दिखाई नही देता पर इसे 'वसन्त पचमी" कहा जाता है। विद्वानो ने इसके अनेक कारण बताये हैं और बहुत अटकलें लगाई है। वसन्त के लक्षण के रूप मे वसन्ती हवा विकसित कमल फूली सरसो और भौंरो की गुजार कवियो को रोमाचित करती रही है किन्तु यह सब आजकल फागुन से पहले नही हो पाता। तभी तो हमारे शास्त्रो मे छ ऋतुओ के विवरण के क्रम मे बताया गया है—' चैत्र वशाखौ वसन्त "। फिर माघ मास मे यह वसत कसा ? सस्कृत के विख्यात कवि स्व कविशिरोमणि भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री के कवि हृदय को भी माघ के शीतकाल में वसत का उत्सव मनाने की तुक समझ मे नही आई थी। तभी उन्होने अपने काव्य जयपुर-वभव मे जयपुर के एक प्रमुख उत्सव वसन्त पचमी का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि यह वसन्त पचमी ऋतुराज वसन्त के आने की सूचना मात्र है। वसन्त का यह भडे का हाथी इतनी जल्दी क्यो आ जाता है इस बारे मे कुछ विद्वानो का तो कहना है कि कालचक्र की गति के अनुसार पहले वसन्त जल्दी आ जाता था। सदिया बीतने के साथ साथ वह आगे सरकता जा रहा है। ज्योतिषियो ने इसी क्रम मे अयनाशो की गणना भी की है जो यह बताती है कि पृथ्वी की विचलन गति के कारण कुछ शताब्दियों के बाद अयनाश बढ़ जाते हैं और ऋतु चक्र में भी थोडा अन्तर पडता है। इस समय 23 अयनाश पूरे हो गये हैं। दूसरे शब्दो में सूर्य की गति के हिसाब से उत्तरायण प्रवृत्ति आदि मे 23 दिन का अन्तर पड चुका है। शायद इसीलिए अब वसन्त 23 दिन आगे सरक गया हो। वज्ञानिक बताते हैं कि

कालिदास के समय मे जिस दिन वसन्त शुरू होता था आजकल उससे 20-25 दिन बाद शुरू होता है। पूर्णत सौरगणना पर न चलकर सूर्यचन्द्र दोनो के लिहाज रखने से यही होता है।

वैदिक ऋषि की दृष्टि

वसन्त जब कभी शुरू होता हो, सर्वोत्कृष्ट ऋतु के रूप मे और ऋतुओ के सम्राट् के रूप मे उसका सिंहासन हमेशा से सुरक्षित रहा है। गीता मे श्रीकृष्ण ने अपने आपको वसन्त बताया है 'ऋतूनां कुसुमाकर।" मैं ऋतुओ मे वसन्त हूँ। विराट् पुरुष ने अपने आपको वसन्त क्यो बताया ? वैसे तो हमारे यहा ऋतु चक्र की गणना मे सबसे पहले वसन्त आता है। सवत्सर का प्रारम्भ प्रथम ऋतु वसन्त से होता है। इस दृष्टि से वह सवत्सर का आदि बिन्दु है। वेदकाल से ही इस समय जो इष्टिया की जाती थी वे नये धान की आहुति के साथ साथ पूरे वर्ष चक्र का केन्द्र होती थी। ऋग्वेद ने भी बहुत पहले चाहे केवल 3 ऋतुओ को गिनाया हो और बाद मे 5 ऋतुओ का वर्णन हो गया हो जो अत मे आकर षडऋतु चक्र के रूप मे विकसित हुआ पर वसन्त हमेशा उनमें रहा और प्रमुख एव आदिम ऋतु रहा। 'येनतव पचधोत क्लृप्ता। उत वा षड्धा मनसोत क्लृप्ता।" द्वारा वेद ने स्पष्ट किया कि 5 ऋतुएँ ही थी (हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मानकर) जो बाद मे छ हो गई। विज्ञानवादियो ने बताया कि अग्निसोमात्मक सवत्सर चक्र मे वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये तीन ऋतुएँ अग्निप्रधान हैं इनमे ऋताग्नि ऋतसोम पर छा जाता है। वसन्त सवत्सर प्रजापति का प्रथम अह (दिन) है। वेद की दृष्टि इस बारे मे क्या है इसका सक्षेप मे परिचय केवल एक मत्र से ही मिल जाता है जो प्रसिद्ध पुरुष सूक्त का अश है—

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्य ग्रीष्म इध्म शरद् हवि॥

इस सूक्त मे सृष्टि विद्या के तत्त्व समाहित हैं। विराट् पुरुष के रूप म सृष्टि का महायज्ञ उत्क्रान्त हुआ और उस विराट सवत्सर यज्ञ मे विश्व पुरुष हविष्य बना। उस महायज्ञ मे वसन्त नवनीत (आज्य) था, ग्रीष्म इध्म (समिधा) और शरद (हविष्य)। यह महायज्ञ और उसका रहस्य क्या है इसकी व्याख्या अनेक विद्वानो ने अपने अपने दृष्टिकोण से की है। विराट् सवत्सर यज्ञ का नवनीत है वसन्त। वह शुद्ध होकर आज्य (घी) बनता है जो अग्नि सोमात्मक यज्ञ का प्रमुख हविष्य है। ऋतुओं के इस नवनीत के साथ ग्रीष्म ऋतु की ये समिधाएँ और शरद ऋतु का यह हविष्य क्या है ? कुछ विद्वान इसमे समिधाओ को सूखे इधन का प्रतीक बताते हैं जिसका काल तत्त्व ग्रीष्म है। साथ ही शरद् काल मे पकने वाली फसल के अन्नो को शाकल्य (हवि) बताते हैं। कुछ विद्वान सवत्सर चक्र के महायज्ञ मे तेजोमय

घृत के तत्व को वसन्त का प्रतीक, इध्म समिधाओं को ग्रीष्म का प्रतीक और अन्न को शरद् का प्रतीक बताकर वैज्ञानिक रहस्य उजागर करते हैं। जो भी हो यह स्पष्ट है कि वेद के आदि ऋषि ने भी वसन्त को सवत्सर के नवनीत के रूप मे देखा था।

सृष्टि विद्या का रहस्य बताने वाला यह पुरुष सूक्त सहस्राब्दियो से देश का इतना श्रद्धा भाजन बना कि सभी वेदो ने इसे अपनी सहिताओं मे रखा। इसका पाठ अनन्त पुण्य दायक बताया गया। यहा तक कि देश मे भक्ति की वेगवती धारा मे ज्ञान और कम के बह जाने पर जो मूर्तिपूजा मन्दिरो मे चली उसमे भी पुरुष सूक्त के मन्त्रो से षोडश उपचार की पूजा करने की परम्परा चल पडी। इस पुरुष सूक्त ने वसन्त का स्मरण करके इसे जो अनादि अनन्त प्रतिष्ठा दी है उसमे सदियो से कोई कमी नही आई है।

विविध परम्पराएँ

वसन्त पचमी सूय के मकर राशि से कुम्भ राशि पर सक्रमण के समय का उत्सव है। मेष राशि के सूर्य को शास्त्र के हिसाब से उच्च का माना जाता है। यह समय चैत्र मास मे आता है। अयनाशो के हिसाब से तथा अन्य अनेक कारणो से अब तो दृग गणितानुसार सूय की चरम उच्चता वृष या मिथुन राशि तक अनेक प्रदेशो में मानी जाने लगी है पर जब मेष को सूय का चरम उच्च बिन्दु माना जाता था उस समय मकर से कुम्भ राशि मे सक्रमण शिशिर (शीत) की समाप्ति का प्रतीक होता था। उत्तर भारत मे इस दिन वष्णव मन्दिरो म वसतोत्सव मनाया जाता है। पीले कपडे देवमूर्ति को धारण कराये जाते हैं और वसन्त या बहार राग मे निबद्ध कीतन होते हैं। बगाल तथा मिथिला आदि अनेक प्रान्तो मे तथा दक्षिण के अनेक प्रदेशो मे इसे श्रीपचमी कहा जाता है और यह प्रमुखत सरस्वती पूजा का उत्सव होता है। उस दिन पुस्तको को एक साथ रखकर सरस्वती की पूजा की जाती है और विद्यालयो मे पढाई नही होती। सरस्वती पूजा के साथ यह उत्सव किस प्रकार जुडा इसके बारे म तो विद्वान ही शोध करेंगे। किन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीपचमी विद्या की या साहित्य की देवी सरस्वती की पूजा की बजाय सगीत की देवी सरस्वती की पूजा का उत्सव अधिक है। वसन्त सगीत और स्वरों की ऋतु है गुजन का पव है। तभी तो वसन्त पचमी को भी उत्तर भारत मे वीणावादिनी की पूजा का उत्सव मनाया जाता है और सगीत महोत्सव आयोजित किये जाते हैं। सगीत विद्यालयों में तो यह वष का प्रमुख उत्सव होता है। वसन्त ऋतु मे वसन्त और बहार राग किसी भी समय गाये जा सकते हैं ऐसी सगीत शास्त्र की मान्यता है। इस व्यापक मुहूत का शुभारम्भ वसन्त पचमी को ही हो जाता है। विवाह आदि अनेक शुभ कार्यों के लिए भी वसन्त पचमी एक 'अबूझ सावा' होता है।

साहित्य मे वसन्त

भारतीय साहित्य मे तो इस ऋतु के संबंध मे लाखो करोडो पृष्ठ रंगे पडे हैं। स्प्रिंग सीजन" जो फूलो के खिलने की ऋतु है सभी देशो के साहित्य का सिरमौर रही है। पाश्चात्य साहित्यकारों ने अप्रेल माह को स्वर्गीय ऋतु बतलाया है। इग्लैंड के प्रसिद्ध कवि राबर्ट ब्राउनिंग अपने प्रवास काल में जहा केवल एक ही टीस अनुभव करते हैं ' ओह टू बी इन इग्लैंड नाउ दैट अप्रेल इज देयर" "हाय, इस वक्त मे इग्लैंड म होता तो क्या ही बात थी अब जबकि बसन्त आया हुआ है" वहा टी एस एलियट कहते हैं "एप्रिल इज द क्रुअलेस्ट मथ।"

भारत के महाकवि कालिदास अवश्य ऐसे प्रदेश मे रह होंगे जहा वसन्त में भी सर्दी सी रहती है। उन्हे वसन्त की बजाय ग्रीष्म ऋतु अधिक प्रिय लगती है ऐसा उनके प्रसिद्ध नाटक शाकु तल मे सकेतित है। उन्होने भारत की छहों ऋतुओ का ऋतु संहार काव्य मे वर्णन किया है किन्तु इसका प्रारम्भ उन्होने ग्रीष्म ऋतु से किया है, समाप्ति वसन्त ऋतु से की है।

ऋतुसहार का वसन्त वर्णन केवल रीति निभाने की दृष्टि से ही किया गया लगता है। वसन्त का सबसे अधिक हृदयावर्जक वर्णन कालिदास के कुमारसभव के तीसरे सर्ग म है। उल्लेखनीय बात यह है कि यह वसन्त प्राकृतिक रूप से आने वाली ऋतु न होकर कवि की कल्पना म उतरा दवी वसन्त है। वसे प्राकृतिक वसन्त का वर्णन भी कालिदास ने रघुवश के नवे सर्ग मे किया है। कुमारसभव मे बतलाया गया है कि तारकासुर के संहार के लिए शिवजी का पुत्र ही समर्थ हो सकता था और शिवजी न तो अखण्ड ब्रह्मचर्य की समाधि ले रखी थी। फिर पुत्र कैसे हो? इसके लिए देवताओ ने यह जाल बिछाया कि हिमालय की पुत्री कुमारी पार्वती उनके सामने जाए और कामदेव उस समय अपना बाण चलाए तो शिवजी पार्वती से अवश्य विवाह कर लेंगे। कामदेव इस सकटमय कर्तव्य का निर्वाह करने हेतु केवल एक शर्त पर तयार होता है वह यह कि उस समय वसन्त उसके साथ हो। वसन्त तयार हो जाता है और सारे हिमालय पर अपनी मनमोहक रगीनी फला दता है। यहा इस अलौकिक शक्ति से असमय लाये गये वसन्त का वर्णन करने में कालिदास ने कलम तोड दी है। लताएँ वृक्षो का आलिंगन करने लगती हैं भौंरे अपनी प्रियाओ के साथ कलियो के चषको से मधु पीने लगने लगते हैं। मृगो और मृगियो के हृदय प्रणय से सराबोर हो जाते हैं। ऐसे समय मे अनिंद्य सुन्दरी पार्वती को देखकर शिवजी का हृदय भला क्यो न विचलित हो जाता?

रीतिकाव्य और वसन्त

संस्कृत का कोई कवि एसा नही है जिसने अपने ढग से वसन्त वर्णन मे अपनी कलम का कमाल न दिखाया हो। माघ हो चाहे जयदेव सभी संस्कृत कवियों

ने वसन्त के प्रतीक के रूप मे फूलो का खिलना, नई कोपलो का निकलना, कोकिल का कूजन और भ्रमरो की झन्कार आदि का वर्णन किया है। इसी परम्परा को निभाते हुए बृजभाषा के कवियों ने भी वसन्त का बहुत मनोहारी वर्णन किया है। रीतिकाल का तो कोई भी कवि ऐसा नही होगा जिसने जमकर वसन्त का वर्णन न किया हो। जयपुर राज्य के आश्रित दो रीति कालीन कवि बृजभाषा कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखते है। ये हैं "बिहारी" और "पद्माकर"। दोनो के वसन्त वर्णन अनूठे हैं।

पद्माकर के वसन्त वर्णन का वह कवित्त सर्वाधिक लोकप्रिय है जिसमे अनुप्रास की छटा अधिक है और जिसमे उन्होने कोने कोने मे वसन्त का विकास बतलाया है

"कूलन मे केलि मे कछारन मे कुंजन मे,
क्यारिन मे कलिन कलीन किलकत है।
कहैं पदमाकर परागन मे पौन हू मे,
पातन मे पिक मे पलासन पगन्त है।
द्वार मे दिसान मे दुनी मे देस देसन मे,
देखो दीप दीपन मे दिपत दिगन्त है।
बीथिन मे ब्रज मे नवेलिन मे बेलिन मे,
बनन मे बागन मे बगर्यो बसन्त है।"



श्रावणी पूर्णिमा

श्रावण मास की पूर्णिमा उत्तर भारत मे रक्षा बन्धन के उत्सव के साथ इतनी जुड गई है कि हिन्दी भाषी क्षेत्रो मे इसे भाई बहिन के निश्छल प्रेम का प्रतीक त्यौहार माना जाने लगा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश के अन्य भागों मे इस पूर्णिमा को जिन समारोहो के साथ मनाया जाता है उनसे हिन्दी भाषियो की जान पहचान बहुत कम रह गई है। वसे शोध विद्वानो की मान्यता है कि रक्षा बन्धन का वह रूप जिसमे बहिन भाई की कलाई पर राखी बाधती है बहुत पुराना नही ह। पुराणो मे इसका उद्गम इन्द्र के हाथ पर इन्द्राणी द्वारा रक्षा के लिए बाधे गये ताबीज से बताया गया है। धीरे धीरे पुरोहित द्वारा रक्षा के लिए बाधे गये अभिमन्त्रित ताबीज, सूत्र या पोटली के रूप मे रक्षा बन्धन की परम्परा ढल गई। धर्मशास्त्रो मे श्रावणी पूर्णिमा को एक वस्त्र मे हल्दी और पीले चावल रखकर पुरोहित द्वारा यजमान के हाथ मे बाधने का विधान मिलता है जिसे रक्षा पोटलिका कहा गया है। उत्तर भारत के लोक मानस ने इसे भाई बहिन के स्नेह के आदान प्रदान का त्यौहार बनाकर एक बहुत बडी कमी की पूर्ति कर दी। वष मे दो उत्सव भाई बहिन के स्नेह को समर्पित हैं—भाईदोज और राखी। परम्परा यह है कि भाईदोज के दिन भाई बहिन के यहा जाता है जबकि राखी के दिन बहिन भाई के यहा जाकर राखी बाधती है। वसे भी विवाहित कन्याओ के मन की यह बडी पुरानी साध है कि बाबुल सावन मे भैय्या को भेजकर उन्हे ससुराल से पीहर बुलवा लें जहा वे अपनी सखियो के साथ सावन के झूले झूलें और रिमझिम की फुहारो मे अपने घर के परिजनो के साथ भीगें। इसी अवसर को अनूठे स्नेह मे भिगो देता है भाई के हाथ मे बँधा राखी का वह डोरा जो श्रावण की पूर्णिमा का मुख्य आकषण बन गया है।

श्रावणी—

मध्यकाल मे किसी समय शुरू हुई इस परम्परा से श्रावण की पूर्णिमा को वेदाध्ययन प्रारम्भ करने की परम्परा जिसे श्रावणी कम या उपाकम कहा जाता है अधिक पुरानी है। वर्षा के दिनो मे जब यात्राएँ सम्भव नही होती थी गुरु शिष्य तपोवनों मे बठकर चार-साढे चार मास तक अध्ययन का सत्र चलाते थे। पुस्तको और यज्ञ पात्रों को साफ करते थे। इस प्रकार सस्कार (शुद्धि) करके वेदाध्ययन

प्रारम्भ करने को उपाकम कहा जाता था। यह श्रावण की पूर्णिमा को शुरू होता था। आज भी उस परम्परा की याद मे सनातनी पण्डित जलाशय पर जाकर स्नान करते हैं, यज्ञोपवीत बदलते हैं और ऋषियो का तर्पण करते हैं। ऋषि तर्पण का यह विधान सभी धर्म शास्त्रो मे पाया जाता है और सारे देश में प्रचलित है। राजस्थान मे ऋषिपूजा की इस परम्परा को लोक जीवन ने एक नया रूप दे दिया था। प्रत्येक गृहिणी अपने द्वार पर श्रवण ऋषि का चित्र गोबर या रग से लिखकर उसकी पूजा करती थी और यह माना जाता था कि श्रवण कुमार की पूजा करके माता पिता के उस भक्त के प्रति हमने अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। इस दिन चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र पर होता है। शायद इसी प्रतीक को लेकर श्रवण की पूजा की यह परम्परा चली हो।

सस्कृत दिवस—

श्रावण की पूर्णिमा को सस्कृत दिवस मानने की परम्परा भारत सरकार की प्रेरणा से कुछ वर्ष पूर्व ही शुरू हुई थी। इस राजकीय आदेश ने इस दिन को हमारी सस्कृति की आदि-स्रोत और समस्त भारतीय भाषाओ की जननी सस्कृत को स्मरण करने के पावन शिष्टाचार से जोड दिया है। इस दिन सरकारी स्तर पर सस्कृत दिवस समारोह आयोजित किया जाता है। राजस्थान मे कुछ विद्वानो का सरकारी सम्मान होता है और सस्कृत सस्थाएँ भी इसे अपने अपने ढग से मनाती हैं। इस भाषा को समारोह से जोडने का यह प्रयास सारे देश मे एक दिन सभी वर्गों का ध्यान इस भाषा के महत्व की ओर आकर्षित करने का अच्छा साधन बन गया है। लगता है श्रावणी या वेदाध्ययन की पुरानी परम्परा का आधार लेकर ही इस दिन सस्कृत दिवस मनाने की बात सोची गई होगी।

वैसे वर्षा के चार मास "चातुर्मास्य" के रूप मे जैन समाज मे भी धार्मिक आयोजनो के केन्द्र रहते हैं और वैष्णव समाज मे तथा साधु समाज मे भी चातुर्मास्य का एक विशेष प्रकार का महत्व प्राप्त है। वर्षा के दिनो म यात्राएं न कर एक स्थान पर बैठकर धर्मोपदेश, स्वाध्याय और सत्सग करने की जैन परम्परा का यह परिणाम स्वाभाविक ही था कि सावन और भादो मे अनेक धार्मिक पर्व और आयोजन केन्द्रित हो जाए। इसके फलस्वरूप जन समाज मे श्रावण की पूर्णिमा को मुनियो की पूजा की जाती है और अनेक धार्मिक आयोजन होते हैं। सन्यासियो के प्रत्येक वर्ग में चातुर्मास्य करने की अर्थात् वर्षा के चार मासो मे किसी एक स्थान पर रहकर धर्माचरण के अनेक कार्य करने की परम्परा अब तक चल रही है। इस परम्परा को वैष्णव भक्ति ने एक अनूठे ढग से ही अपनाया है। प्रत्येक वैष्णव मन्दिर मे सावन के झूले सजाए जाते हैं और कृष्ण की मूर्तियों को उनमे झुलाया जाता है। सावन म सारे वैष्णव मन्दिरो मे फूलो की झाकिया फूलबगले जल-

नौका आदि की झांकियाँ तथा अन्य अनेक प्रकार के शृंगार सजाये जाते हैं और दर्शनार्थी भक्तों की रेलपेल रहती है। उत्तर भारत के अनेक स्थानों में सावन की पूर्णिमा को 'झूलन पूर्णिमा' के रूप में मनाया जाता है। जयपुर की महिलाएँ सावन के प्रत्येक सोमवार को वन सोमवार मनाती हैं। इस दिन घर खाना नहीं खाया जाता। हरियाली के बीच किसी भी उपवन में एकबार सबके साथ मिलकर भोजन किया जाता है।

नारियल पूर्णिमा—

गुजरात और महाराष्ट्र में यह पूर्णिमा राखी के साथ न जुड़ कर नारियल के साथ जुड़ी हुई है। नारियल या श्रीफल वर्षों से हमारी संस्कृति का प्रतीक रहा है। इसका प्रमुख जन्मस्थान समुद्र का तट है। समुद्र की कृपा से उत्पन्न इस ताजे फल को जो इन दिनों बहुतायत से होता है, इस दिन समुद्र को चढ़ाया जाता है। सावन की पूर्णिमा के दिन समुद्र पूजन का प्राचीन विधान भी मिलता है। इसी का अनुसरण करते हुए समुद्र तट के सारे प्रदेश इसे 'नारली पूर्णिमा" (नारियल पूनो) के रूप में मनाते हैं और समुद्र तट पर जाकर श्रीफल से उसका पूजन करते हैं। इसी ऋतु में केरल का प्रसिद्ध त्योहार ओणम भी मनाया जाता है जिसमें नौका दौड़ होती है और अय्यप्पन का पूजन होता है। यद्यपि केरल का ओणम पूर्णिमा के साथ जुड़ा हुआ नहीं है किन्तु नारली पूर्णिमा गुजरात और महाराष्ट्र का एक प्रमुख त्योहार है।

हयग्रीव जयन्ती—

दक्षिण भारत में श्रावण की पूर्णिमा हयग्रीव जयन्ती के रूप में प्रसिद्ध है। विष्णु का यह अवतार उत्तर भारत में तो एक अजूबा लग सकता है किन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में इसकी पूजा बहुत पुरानी है। ज्ञान और वदुष्य के देवता के रूप में घोड़े के मुँह वाले इस विष्णु के अवतार की कथा वदिक काल से लेकर पुराण काल तक सदा लोकप्रिय रही है। भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों में इसे स्थान दिया गया है। कहते हैं विष्णु ने एकबार यज्ञ पुरुष का रूप धारण किया और विश्व का सारा ज्ञान और पुण्य लेकर भाग निकले। अन्य देवताओं ने यह देखकर यज्ञ पुरुष का सिर कटवा दिया। इस पर अश्विनी कुमारों ने एक अश्व का मुख उस पर लगा दिया। इस प्रकार हयग्रीव या हयवदन नामक विष्णु का अवतार हुआ जो विद्या और वदुष्य का देवता बन गया। एक बार जब असुरों ने समस्त वेदों का अपहरण कर लिया था इसी अवतार ने वेदों का पुनरुद्धार किया था। इस प्रकार की अनेक कथाएं पुराणों में मिलती हैं। एक कथा यह भी है कि हयग्रीव नाम का एक असुर जिसका मुँह घोड़े का था विश्व का संहार करने को उद्यत हो गया। उसको यह आशीर्वाद प्राप्त था कि घोड़े के मुँह वाली कोई शक्ति ही उस पर विजय

प्राप्त कर सकती है। इस पर विष्णु ने हयग्रीव अवतार लेकर उसका वध किया। जो भी हो, दक्षिण भारत मे विद्वानो के द्वारा इस देवता की उपासना शताब्दियो से चली आ रही है। यह अवतार श्रावण की पूर्णिमा को हुआ था, ऐसी मान्यता है। इसलिए भारत के अनेक भागो मे विष्णु के मदिरो मे इस दिन अनेक आयोजन होते हैं।

हिमालय की गोद मे—

सुदूर उत्तर मे श्रावण की पूर्णिमा शिव और शक्ति के साथ जुडी हुई है। कश्मीर का प्रसिद्ध शिव मन्दिर अमरनाथ यात्रियो के लिए बहुत बडा तीर्थ स्थान है जहा बर्फ से बने हुए स्वयभू शिवलिंग के दर्शन करने बडी बीहड यात्रा पार कर यात्री लोग पहुचते हैं। 15–16 हजार फीट की ऊचाई पर एक दुर्गम पहाडी के बीच बने अमरनाथ की यात्रा की सम्पूर्ति का दिन है श्रावणी पूर्णिमा। इस दिन वहा मेला लगता है और अमरनाथ की विशेष झाकी होती है। जाडो के दिनो मे इस तीर्थ की यात्रा सम्भव नही होती। श्रावणी पूर्णिमा के दिन पूजन का माहात्म्य भाति भाति से बताया जाता है। वाराही देवी की मान्यता वरुणावी देवी के समान ही पहाडी अचलो मे बहुत है। इस देवी का उल्लेख अनेक शक्ति पुराणो मे पाया जाता है।

इस सतरगे देश की सतरगी सस्कृति जितनी विविधरूपा है उतनी ही व्यापक भी। सावन के विविध पर्वों को इस देश के विभिन्न अचलो ने अपनी लोक चेतना को सतुष्ट करने के लिए जो बहुरगी रूप दिये हैं वे इस सतरगी सस्कृति की पूरी पहचान कराते हैं। ज्यो ज्यो उन स्वरूपो की जानकारी हमे मिलती हैं, उनकी विविधता हमें आश्चर्य चकित कर देती है। सावन की सतरगी पूनो के ये रग बिरगे रूप भी इसीके जीते जागते प्रमाण है।



चातुर्मास्य : स्वरूप और परम्पराएँ

राजस्थान मे ही नही समूचे देश मे विशेषकर उत्तर भारत मे वर्षा ऋतु के चार महीने विभिन्न धार्मिक परम्पराओ के केन्द्र बन गये हैं। यही वह समय होता है जब सभी धर्मों मे तपस्वी साधु संन्यासी अपनी निरन्तर यात्राओं से विरत होकर एक ही स्थान पर चार मास तक रहते हैं और वहां के श्रद्धालुओ को धर्मोपदेश करते हैं। इसे चातुर्मास्य करना या चौमासा करना कहते हैं। इन चार मासो मे इसी कारण अनेक धार्मिक रीति रिवाज आचार परम्पराए और उत्सव समाहित हो गये हैं। इसका एक कारण तो प्राचीन भारत की इस सामाजिक स्थिति मे तलाशा जा सकता है कि वर्षा से रास्ते रुक जाने और यात्राओ के प्रचुर और सशक्त साधन उपलब्ध न होने के कारण इन चार मासो मे यात्राए नही की जाती थी। यायावर साधु-संन्यासी एक जगह स्थिर हो जाते थे। तीर्थ यात्राए बन्द हो जाती थी तथा दूर जाकर गुरुओ से पढने की स्थिति भी नही बनती थी।

इसी परम्परा मे वेदकाल का वह वर्षाकालीन स्वाध्याय भी आता है जिसे आज भी श्रावणी या उपाकर्म कहा जाता है। उस समय श्रावणी पूर्णिमा से वेद के पुनरनुशीलन का क्रम चलता था। इसी के साथ भाद्रपद मास मे वेदकालीन ऋषि अपने तपोवनो मे अपने शिष्यो के साथ अनेक प्रकार की तैयारियाँ करते थे जिनमे वर्षभर के यज्ञ कार्यों के लिए दर्भ तोडकर लाना भी शामिल था क्योंकि वर्षाकाल मे कुशो और वनस्पतियो की सहज वृद्धि होती थी। रस्म के रूप मे आज भी भाद्रपद की अमावस्या को यह कार्य किया जाता है जिसे कुशग्रहणी अमावस्या कहा जाता है। इस प्रकार वैदिक काल से ही चातुर्मास्य शताब्दियो तक यज्ञ और स्वाध्याय की परम्पराओ से जुडा रहा। आज भी उस परम्परा मे शंकराचार्य आदि संन्यासी धर्मगुरु इन दिनों एक स्थान पर ही निवास करते हैं और धर्मोपदेश करते हैं। ये चौमासा कब शुरू होता है इस बारे मे दो परम्पराए हैं। एक परम्परा आषाढ शुक्ल द्वादशी से कार्तिक शुक्ल द्वादशी तक चातुर्मास्य मनाती है। दूसरी परम्परा आषाढ मास की संक्रान्ति से (वह कभी भी हो) कार्तिक मास की सूर्य संक्रान्ति तक चातुर्मास्य मनाती है।

भारत की श्रमण संस्कृति भी बहुत प्राचीन है। इसमे भी वर्ष के चार माहो मे साधुओ और मुनियो का एक स्थान पर रह कर धर्मोपदेश करना बहुत प्राचीन परम्परा है। उसी परम्परा मे आज भी भाद्रपद माह मे जो चातुर्मास का मध्य है जन धर्मावलम्वी पयुषण पव मनाते हैं। दिगम्बर आम्नाय मे इसे दशक्षलण पव कहा जाता है। ये वष भर के महत्वपूण धार्मिक कृत्य हैं। दिगम्बर जैनो म इसकी पूर्ति के बाद क्षमापन पव भी मनाया जाता है। वर्षाकालीन इन मासो मे धर्माचरण पर विशेष बल देन की परम्परा उपयुक्त चातुर्मास्य की परम्परा का ही अग प्रतीत होती है। महावीर ने गौतम गणधर को प्रथम धमदेशना (उपदेश) श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को दी थी। जिस प्रकार वर्षा के बादल जल बरसा कर हलके और शुभ्र हो जात हैं उसी प्रकार कषायो (कलुष) और विषयो (वासना) का त्याग कर धर्मार्थी इन दिनो निमल होन का प्रयत्न करता है।

वष्णव परम्परा के लिये भी श्रावण और भाद्रपद माहो का धार्मिक महत्व है। आज भी वैष्णव मदिरो म सावन के झूल और झाकिया ता भक्तिकालीन परम्परा के रूप मे चले आ रहे हैं किन्तु इसमे पूव भी जब विष्णु की उपासना को व्यापकता दी जाने लगी थी, सनातन धार्मिक वष्णव आचारो के प्रमुख कृत्य श्रावण और भाद्रपद माह मे किये जाते थे। श्रावण से प्रारम्भ होकर ऐसे उत्सव दीपावली के बाद तक चलते थे। चाहे आज इस अवधि को "देव सोने की" (देवताओ के सोते रहने की) अवधि बता कर मागलिक कार्यों के मुहूत निकालने पर प्रतिब ध लगा दिया जाता हो किन्तु धार्मिक कार्यों का इसमे कोई प्रतिब ध नहीं है बल्कि उनकी विपुलता ही है। गणेश चतुर्थी और जन्माष्टमी के अलावा भाद्रपद शुक्ल पचमी को ऋषि पचमी के रूप मे इसी माह मे मनाया जाता है जिसमे वदिक ऋषियो का स्मरण किया जाता है।

इसी परम्परा का अभिन्न अग है अनन्त चतुदशी जो वष्णव सम्प्रदाय का महत्वपूण पव है। यह पव मूलत इस धारणा के साथ शुरू हुआ होगा कि विष्णु ही महाविभूति (विश्व का पालन करने वाली सव व्यापक शक्ति) अनन्त हैं, अन्तर्यामी हैं और व्यापक हैं। वे नित्य विभूति है राम कृष्ण आदि उन्ही की लीला है, विभूति है। आचार की मर्यादा को नियत्रित करने वाले प्राचीन वष्णव सम्प्रदाय मे (जो वासुदेव सम्प्रदाय से अलग था) विष्णु के इस अनन्त रूप को समस्त वैष्णवो के लिए वन्दनीय माना गया। वष्णवो की यह धारणा है कि इन चार माहो मे विष्णु क्षीर सागर में शेषनाग की शय्या पर शयन करते हैं और भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को करवट लेते हैं जिस दिन विष्णु परिवतनोत्सव मनाया जाता है। सहस्रशीर्षा विष्णु की तरह सहस्रफण होने के कारण शेषनाग को भी अनन्त कहा जाने लगा था। अनन्त शयन (शेषशायी) भगवान विष्णु इस अवधि मे

एक जगह ही रहते हैं और आराम करते हुए भी भक्तो को ससार बधन से मुक्त करते रहते हैं। इसी परम्परा मे भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी को अन त विष्णु की पूजा करके वष्णव लोग कच्चे सूत का चौदह गाँठों वाला रगा हुआ एक डोरा अपने बाजू पर बाँधते हैं जो व्यापक व णव परम्परा के अनुयायी होने का प्रतीक है। यह बधन ससार के बधनो से मुक्ति दिलाता है। वैष्णव परम्परा का यह उत्सव वर्षाकालीन चातुर्मास्य का प्रमुख व्रत है।

वष्णव सम्प्रदायों में भक्तिकालीन धाराओ के आने के साथ जब विष्णु के गोपाल और वृ दावन विहारी रूप की माधुय लक्षणा भक्ति प्रचलित हुई तो व्यापक और अन त विष्णु की मर्यादापरक पूजा उतनी सुप्रचलित नही रही जितनी मध्य काल म थी तथापि उसके प्रतीक के रूप मे आज भी वष्णवा मे अन त का व्रत करने और डोरा बाधने की यह परम्परा चली आ रही है।

जसा पहले बताया जा चुका है जन आम्नायो म भाद्रपद मास के इन पर्वों का सर्वाधिक महत्व है। जैन धम मे शारीरिक वृत्तियो का अधिकाधिक सयम, आचार का कट्टर अनुशासन और सासारिक ब धनो से पूण विरक्ति आदि को प्रमुखता दी गयी है। इसी का अग है उपवास (काषाय विषय और आहार का त्याग) जिसका सिद्धात है शरीर का मोह त्याग कर उसकी वत्तियो को नियत्रित करना। उपवास तथा अ न जल के त्याग की यह धारणा जन आचार का महत्वपूण अग है। अ न जल त्यागी साधुओ और श्रावको को सर्वाधिक श्रद्धा का पात्र इसी दृष्टि से माना जाता है। कुछ विद्वानो का तो यह मानना है कि उपवास की अवधारणा जो सनातनी परम्पराओ म भी व्याप्त हो गयी है, श्रमण सस्कृति का प्रभाव है अ यथा वैदिक सस्कृति मे व्रत तो था उपवास नही। जो भी हो उपवास से सम्ब धित आचारो का प्रमुख केन्द्र भाद्रपद मास ही जैन धम के दोनो आम्नाया (श्वेताम्बर और दिगम्बर) मे माना जाता है। इस मास मे अधिक से अधिक आत्मसयम का तप उपवास रख धार्मिक आचारो का पालन और उपदेशो का श्रवण जन धर्मावलम्बियो के प्रमुख धार्मिक कृत्य हैं। दिगम्बर आम्नाय मे इसे दश लक्षण पव कह कर भाद्रपद शुक्ल पचमी से चतुदशी तक मनाया जाता है। इन दस दिनों मे धम के दस प्रकारो या तत्वा (उत्तम अर्थात् अध्यात्मो मुख क्षमा अर्थात् सहनशीलता, उत्तम मादव अर्थात् नम्रता, उत्तम आजव अर्थात् सरलता व सहजता उत्तम सत्य अर्थात् सच्चाई, उत्तम शौच अर्थात नि स्पृहता सयम अर्थात् अनुशासन तप त्याग आकिंचय अर्थात् अपरिग्रह और ब्रह्मचय अर्थात् अध्ययन) का पालन और उपदेश श्रवण किया जाता है। इसके अन तर आश्विन कृष्ण द्वितीया को क्षमापन पव मनाया जाता है जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति से मतभेद भुला कर किसी भी प्रतिकूल वचन या काय के लिय सबसे क्षमा मांगी जाती है।

श्वेताम्बर आम्नाय मे इन उपवासो और आचारो को पर्यु पण कहा जाता है जिसका शब्दार्थ है उपासना। ये भाद्रपद कृष्णा एकादशी से शुक्ल चतुर्थी तक ये पर्व मनाते हैं जिसमें अर्हं तो, सिद्धो आचार्यों उपाध्याया और सब साधुओ का पूजन नमन तथा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के सिद्धान्तो का चिन्तन व पालन किया जाता है। इसके अनन्तर शुक्ल पचमी को (जिसे सनातनी ऋषि पचमी के रूप मे मनाते हैं) सवत्सरी के रूप मे मनाया जाता है जो पर्यु पण पर्व की सम्पन्नता (सफल समाप्ति) का प्रतीक है। एक तरह से इस दिन श्रावक का आध्यात्मिक पुनर्जन्म या नया वर्ष शुरू हो जाता है। इस प्रकार जैनो के दोनो आम्नायो मे भाद्रपद मास के इन धार्मिक पर्वों को वर्ष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचार पर्व माना गया है।

राजस्थान मे जैन धर्म का विपुल प्रचार होने के कारण इन पर्वों की गूज भाद्रपद मास के दूसरे पखवाडे भर बराबर सुनाई देती रहती है। इसी प्रकार ब्रज की कृष्ण भक्ति परम्परा का पूरा प्रभाव होने के कारण श्रावण मास की ब्रज परिक्रमाओं झाकियों और भाद्रपद मास के व्रतो की परम्परा भी यहा वर्षों से चली आ रही है। यद्यपि वदिक सस्कृति के स्वाध्यायो की परम्परा विलुप्त सी हो गई प्रतीत होती है किन्तु वष्णव सम्प्रदाय की अनन्तचतुर्दशी आज भी इस बात का प्रतीक है कि ब्रह्मा विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति के समन्वय को सनातन भारतीय परम्परा का परिचायक मानने वाला धार्मिक सनातनी वष्णव शेषशायी पृथ्वीपालक विष्णु को आज भी अपनी चेतना मे अविभाज्य रूप से व्याप्त मानता हुआ उस अन्तर्यामी अनन्त की पूजा करता है जो ब्रह्माण्ड के विराट् स्वरूप का प्रतीक है।

□□□

विजयदशमी और रामलीला : परम्परा की खोज

शरद् ऋतु के अवतरण की घोषणा करते हुए विजयदशमी ज्योंही आश्विन के नवरात्रों के साथ आती है उत्तर भारत में रामचरित्र की भागीरथी बहने लगती है। आश्विन के नवरात्रों में गांव गांव और नगर-नगर में रामलीलाओं के आयोजन होते हैं। विजयदशमी को ही नहीं दीपावली को भी उत्तर भारत का जन जन रामकथा का स्मरण कराने वाले पर्वों के रूप में देखता है। विजयदशमी को तो राम महोत्सव ही माना जाने लगा है, पत्र पत्रिकाएं रामचरित्र के सम्बन्ध में सामग्री प्रकाशित करती हैं, राम की शोभा यात्राएं निकलती हैं, रामचरित मानस की कथाएं होती हैं।

रामचरित्र के साथ आश्विन के नवरात्र और विजयदशमी कब से जुड़ गई—इस पर विद्वानों ने बड़ी खोजबीन की है, बड़े शास्त्रार्थ किये हैं यद्यपि उनका बहुत कम अंश हिन्दी भाषा में आ पाया है। वैसे रामचरित्र की यह आश्विन मासीय धारा उत्तर भारत की ही विशेषता है, पूर्वी भारत में, विशेषकर बंगाल में नवरात्र और विजयदशमी दुर्गापूजा के ही महोत्सव माने जाते हैं। बंगाल में दुर्गापूजा बहुत विशाल पैमाने पर मनाया जाने वाला सार्वजनिक महोत्सव और वर्ष भर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पर्व है ठीक उसी प्रकार जैसे दीपावली उत्तर भारत का प्रमुख पर्व हो गया है। बंगाल में "पूजा की छुट्टी" या पूजा हॉली डे की साल भर प्रतीक्षा की जाती है। नवरात्र के पूरे नौ दिन दुर्गापूजा के दिन हैं और विजयदशमी उसकी समाप्ति का उत्सव है। मैसूर में इस दिन मैसूर महाराज के चामुण्डा मंदिर में समारोहपूर्वक शोभा यात्रा के रूप में जाने की तथा वहां एक महिष की बलि देने की प्रथा वर्षों से चली आ रही है।

कुछ शताब्दियों पूर्व तक विजयदशमी को जय यात्रा के मंगल मुहूर्त के रूप में और अपराजिता देवी के पूजोत्सव के रूप में मनाया जाता था। वर्षा के दिनों में राजाओं की जय यात्राएं स्थगित रहती थीं। आश्विन आने पर राजा विजय यात्रा के लिए प्रस्थान करते थे। इस परम्परा को इतना महत्व दिया जाने लगा कि प्रत्येक क्षत्रिय परिवार, राजघराने और सामंतों के लिये इसे "सीमोल्लंघन' का पर्व बता

कर यह विधान किया गया कि इस दिन वे समारोहपूर्वक अपने राज्य की सीमा लांघ कर बाहर निकलें, वहां अपराजिता देवी का और वनस्पतियों का विशेषकर 'शमी' (सेजड़े) के वृक्ष का पूजन करें। इसीलिये इस दिन राज परिवारों में पहले विधि विधान से शस्त्र पूजन होता था, फिर इन्द्र के घोड़े उच्चैःश्रवा का पूजन कर युद्ध के वाहनों विशेषकर घोड़ों और हाथियों का पूजन होता था जो स्वयं राजा के द्वारा किया जाता था। फिर सपरिवार जुलूस के रूप में सीमा का उल्लंघन कर शमीवृक्ष का पूजन किया जाता था। बाद में सीमोल्लंघन की रस्म को केवल इस प्रकार क्रियान्वित किया जाने लगा कि राज्य की सीमा के बाहर निकलने की बजाय राज गृह या नगर की सीमा के बाहर निकलना पर्याप्त माना जाने लगा। समस्त देशी रियासतों में अब तक ये प्रथाएं चलती रही थीं। जयपुर राज्य में भी विजयदशमी को जयपुर नरेश ये सब पूजा विधान सम्पन्न कर सायंकाल अपने महल से आमेर रोड के एक स्थल विशेष तक जुलूस के रूप में जाते थे।

यह सब विजय यात्रा या दिग्विजय के लिये सेना-प्रस्थान का प्रतीक था। इस पर्व को मानव की अदम्य विजिगीषा महत्वाकांक्षा और साहसिकता का पर्व कहा जा सकता है। अपराजय और शक्ति की साधना का दिवस था यह। स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सन् 1904 में 'एशिया की विजयदशमी' शीर्षक कविता 'समालोचक" पत्र में लिखी थी जिसमें जापान की रूस पर विजय को एशिया का सीमोल्लंघन बता कर उसे बधाई दी थी। उन्होंने लिखा था —

'प्राचीन लोग विजया दिन में बतावें,
सीमा उलांघ अपनी, रिपु धाम जावें।
जो शत्रु पास नहिं हो रिपु-चित्र ही को
संग्राम में हत करें, बल वृद्धि जो हो।"

इस दिन यदि सचमुच शत्रु पर चढाई सम्भव न भी हो तो शत्रु के चित्र को ही मार गिरा कर रस्म पूरी की जाती थी। यदि कोई शत्रु न रहे या शांतिकाल में अथवा अनाक्रमण संधि के कारण किसी पर भी चढाई की जरूरत न हो तो क्या किया जाए यह गुलेरी जी ने नहीं बताया। बहरहाल यह पर्व था विजय यात्रा के स्मरण का और अपराजिता देवी की पूजा का।

रामचरित्र के साथ इसका सम्बन्ध कैसे जुड़ा यह अब तक रहस्य ही बना हुआ है। इस पर विद्वानों ने अटकलें अवश्य लगाई हैं और विभिन्न मत दिये हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि राम रावण युद्ध इस देश के सांस्कृतिक इतिहास के दो महायुद्धों में से एक है और प्राचीनतर है अतः महाविजयी और अप्रतिम योद्धा राम की रावण पर विजय विजयदशमी को ही अवश्य हुई होगी, यह योजना स्वाभाविक थी। कम से कम विजयदशमी के दिन इस विजय का स्मरण करना तो आवश्यक माना ही जाना चाहिये। महाभारत युद्ध के साथ भी विजयदशमी को जोड़ा

गया था। एक मत यह भी है कि रामलीला का प्रमुख आधार तुलसीदास का राम चरित मानस है अत सम्भव है उसके प्रणयन के बाद गत 400 वर्षों मे यह परम्परा अधिक पनपी हो। वैसे चित्रकूट आदि अनेक स्थानो पर चत्र शुक्ल म रामनवमी के साथ रामलीलाओ के आयोजन की परम्परा थी जो आज तक चल रही है।

राम की रावण पर विजय किस तिथि को हुई थी इसका कोई सकेत वाल्मीकि की रामायण मे नहीं मिलता, न रामचरितमानस मे मिलता है। वाल्मीकीय रामायण मे राम के वनवास हेतु प्रस्थान करने या भरद्वाज आश्रम पहुचने के प्रसग म जहा कही तिथि का कुछ सकेत है, उसे लेकर विद्वानों ने राम चरित की तिथि पत्रिया बनाई हैं। रामचरित्र की घटनाओ की तिथियां क्या थीं, वनगमन, सीताहरण रावणवध आदि में समय किस किस की क्या क्या आयु थी इस पर बडे शोध कर के विद्वानो और ऋषि मुनियो ने सस्कृत मे ग्र थ लिखे हैं। कुछ अब हिन्दी म भी उपलब्ध हैं। आनन्द रामायण अध्यात्म रामायण आदि विभिन्न शीर्षको से जो रामायण लिखी गई उनमे से एक अग्निवेश रामायण" इसी विषय पर लिखी गई कि राम कथा की तिथिया क्या थी। इसमे विजयदशमी का राम रावण युद्ध या रावण पर राम की विजय से कोई सम्ब ध नही बताया गया है। वाल्मीकीय रामायण के अधिकाश टीकाकार और यह रामायण चैत्र मास मे रावण वध मानते हैं वशाख मे राम का राज्याभिषेक मानते हैं।

विजयदशमी को राम ने रावण विजय पूरा किया था और राम के अयोध्या लौटने पर वहा दीपो की सजावट दीपावली वाले दिन तक की जाती रही थी, इस मान्यता के जनक या समथक वाल्मीकि रामायण की "तिलक' सस्कृत टीका क प्रणेता नागेश भट्ट हैं। हो सकता है काशी के नागेश भट्ट (जो तुलसीदास के परवर्ती और सवाई जयसिंह के प्राय समकालीन थे) ने काशी की (रामनगर की) सुप्रसिद्ध रामलीला के समथन मे जिसम स्वय काशी नरेश सम्मिलित ह ते थे और जो मानस पर आधारित थी तथा विजयदशमी तक चलती थी और जिसकी अक्षुण्ण परम्परा आज तक चली आ रही है—अपनी टीका म रामचरित्र की तिथि पत्री इस प्रकार की दी हो जिसम विजयदशमी को रावण विजय के उत्सव की तिथि बताया गया। कुछ विद्वान इसे प्राचीन परम्परा मान कर यह बताते हैं कि एक उपपुराण कालिका पुराण" म भी यह बताया गया है कि नवरात्रो मे राम ने शक्ति पूजा की और आश्विन शुक्ल नवमी को रावणवध किया।

किन्तु अधिकाश विद्वान और प्राचीन ग्र थ इस मत के नही हैं। अनेक पुराणो म और वाल्मीकीय रामायण की अ य टीकाओ म इसके विरोध म पुष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। देवीभागवत मे, जो शक्ति पूजा परम्परा का मूल पुराण है विजयदशमी को राम का युद्ध यात्रा हेतु प्रस्थान माना गया है। पद्म पुराण के पुष्कर खण्ड म लिखा है कि राम रावण युद्ध 48 दिन चला और चत्र शुक्ल चतुर्दशी

को समाप्त हुआ एवं रावण मरा। अग्निवेश रामायण में 73 दिन तक युद्ध बताया गया है और चैत्र कृष्ण चतुर्दशी को रावण वध। कुछ रामचरितमानस के संस्करणों के पीछे छपी तिथि पत्री में भी चैत्र या वैशाख में रावणवध बताया गया है। इनके आधार पर विद्वानों ने नागेश भट्ट के मत का विश्लेषण कर यह सिद्ध किया है कि उनकी तिथि पत्री में किस प्रकार आन्तरिक असंगतियां आ जाती हैं। फिर आश्विन से पूर्व तक चढ़ाई का निषेध था, कार्तिक में राज्याभिषेक वर्जित था। अतः यह कलण्डर ठीक नहीं बैठता। अग्निवेश रामायण का पूरा कलण्डर राम जन्म से लेकर अन्त तक का क्यों न मान लिया जाए?

जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने विजय दशमी को रावण वध मानने की इस परम्परा के विरोध में अनेक लेख लिख कर इस मान्यता की अप्रामाणिकता सिद्ध की और बताया कि कालिका पुराण (जो वैसे भी उप पुराण है और अर्वाचीन है) की उक्ति सामान्य संकेत मात्र है, उसमें तिथि सुनिश्चित नहीं मिलती जबकि अन्य सारी मान्यताएं चैत्र में रावण वध का समर्थन करती हैं। उन्होंने इस अवधि में होने वाली रामलीला की परम्परा का आधार यही बताया है कि विजयदशमी दुर्दान्त शत्रु पर विजय प्राप्त करने की भारतीय मान्यता की बहुत प्राचीन तिथि है। अतः इस दिन राम की विजय का स्मरण करने की परम्परा चल पड़ी। इस तिथि को रावण विजय हुआ था, यह मानने की आवश्यकता नहीं है। राम सत्य के आदर्श के अनुशासन के, आचार के, मर्यादा के प्रतीक हैं जबकि रावण असत्य, अहंकार, उद्दण्डता अनाचार और लिप्सा का प्रतीक है—रावण पर राम की विजय का स्मरण विजयदशमी को नहीं किया जायेगा तो और कब किया जाएगा? इसीलिये एक योद्धा और विजेता की स्मृति में यह परम्परा चली होगी।

जो भी हो, शोध और अनुसंधान के निष्कर्ष किसी भी तिथि को छानबीन करते रहें, जनमानस में तो शरद् ऋतु की पगध्वनि शुरू होने के साथ ही राम के पावन चरित्र की पीयूषधारा बहने लगती है, रामलीला की अनुगूंज दिग् दिगन्त में व्याप्त हो जाती है और इस देश के सांस्कृतिक इतिहास का एक अमर आख्यान फिर एक बार सारे वातावरण को अपने अमर संदेश से, पावन प्रेरणा से, भर देता है।



प्रकाश-पर्व : इतिहास और स्वरूप

प्रकाश की पूजा इस देश की पुरानी परम्परा है। यह देश सूय पूजकों का देश है। वेदो से लेकर आज तक सूय की पूजा किसी न किसी रूप मे की जाती रही है। गायत्री मन सूय की ही उपासना का मत्र है। सूय सारे विश्व मे प्रकाश का एक मात्र अनादि और अन त स्रोत है। बुद्धि को प्रकाश कहा गया है। सारे विश्व की प्राचीन सस्कृतियो म ज्ञान को प्रकाश के रूप मे देखा गया है। यूनानी सस्कृति भी कहती है कि अज्ञान और अधकार से ईश्वर ने जब ज्ञान की सृष्टि करनी चाही तो उसने प्रकाश (लोगोस) को जन्म दिया।

प्रकाश की यह पूजा ही दीपोत्सव का आधार है। दीपक मानव के स दभ मे उसी प्रकाश का प्रतीक है जो अन त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है। आपने तीर्थों पर दीपदान करते भक्त, गगा मे दोने पर रख कर दीपक बहाती हुई धार्मिक महिलाए देखी होंगी। दीपदान इसी प्रकाश पूजा का रूप है। इस परम्परा का सबसे पुराना उल्लेख मिलता है उत्तर वैदिक काल म आकाशदीप के विध म से। आकाशदीप वह दीपक होता था जो किसी ऊचे बास पर, काफी बडी ऊचाई पर कागज या अन्य किसी माध्यम से सरक्षित करके टाग दिया जाता था। शास्त्रो मे यह विधान बहुत पुराना है कि श्राद्ध पक्ष या क यागत सूय जिसे कनागत कहते हैं के समय पूवजो का जो आह्वान किया जाता है उसके बाद जब वे अपने अपने लोको को लौटते हैं तो उ हे माग दिखाने के लिए बहुत ऊचाई पर दीपक टांगने चाहिए। ये आकाशदीप शरत्काल मे टागे जाते थे। लगभग यही समय दीपावली का है। दीपावली का पव आज इस देश मे वष भर का सबसे बडा उत्सव हो गया है जो कार्तिक की अमावस्या को मनाया जाता है। इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो यह खोज बडी दिलचस्प रहेगी कि यह कब से मनाया जाने लगा।

उत्सव का प्रारम्भ कब हुआ ?

यह उल्लेखनीय है कि दीपावली शरत्काल का उत्सव है। आर्यों की सस्कृति मे बसत और शरत्, दोनो ऋतुए बडी मनोरम मानी गई हैं क्योकि यहा की जलवायु चरम स्थिति वाली है। जाडो म बडी सर्दी और गर्मी म तेज गर्मी पडती है पर वसत और शरत् ऋतुए बडी अच्छी रहती हैं इसलिए अधिकाश उत्सव इन ऋतुओ

मे केन्द्रित हो गये। खगोलीय दृष्टिकोण से आश्विन, कार्तिक के समय और फाल्गुन, चत्र के दिनो मे, इस प्रकार वर्ष मे दो बार सूर्य विषुवत रेखा पर होता है। इस स्थिति को क्रमश शरत्सम्पात और वसतसम्पात कहा जाता है। इ हे अंग्रेजी मे आटमनल एक्विनोक्स और वनल एक्विनोक्स कहते हैं। ऐसे दिनो मे रात और दिन बराबर होते हैं तथा भारत जैसे देशो मे मौसम बहुत सुहावना हो जाता है। इन दोनो अवसरों पर बडे उत्सवो का उल्लेख बहुत पहले से मिलता है। इनमे शरत् काल का प्राचीन उत्सव कौमुदी महोत्सव बताया गया है जिसमे जलाशयो पर और नावों मे दीपक जलाकर प्रकाश पव मनाया जाता था। चाणक्य और च द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र मे ऐसा कौमुदी महोत्सव बडे पमाने पर मनाया गया था, इसका उल्लेख गुप्तकालीन ग्र थो मे मिलता है कि तु यह उत्सव शरत् पूर्णिमा को मनाया जाता था ऐसा विद्वानो का मानना है।

दीपोत्सव का रूप जो ऊपर कौमुदी महोत्सव के प्रसग मे बताया गया है उसकी परम्परा गुप्तकाल से भी पुरानी है। प्राकृत की गाथा सप्तशती मे जिसका समय आज से दो हजार वर्ष पूव माना जाता है महिलाओ द्वारा स्थान स्थान पर दीपक रखकर उत्सव मनाने का वणन मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि ऐसा लोकोत्सव बहुत पुराना था चाहे वह उस दिन नही मनाया जाता हो जिस दिन आज दिवाली मनाई जाती है। फिर उस दिन कौनसा उत्सव मनाया जाता था? इसका उत्तर हमे वात्स्यायन के कामसूत्र मे मिलता है जिसमे अमावस्या को यक्ष रात्रि नामक उत्सव मनाने का सकेत है। इसमें दीपोत्सव का विवरण तो नही है पर सामाजिक क्रीडाओ और सगीत नृत्य आदि के साथ खुशिया मनाने का उल्लेख अवश्य है। यक्ष सस्कृति जीवन के स्वस्थ उपभोग की सस्कृति मानी गई है। उसी के अनुरूप सुख रात्रि या यक्ष रात्रि नाम से कार्तिक की अमावस्या को (जो अमा त मास गणना के हिसाब से आश्विन की अमावस्या है) ऐसे सामाजिक उत्सव की परम्परा थी। ऐसा लगता है कि 15 दिन पूव शरद् पूर्णिमा को होने वाले कौमुदी महोत्सव और अमावस्या को होने वाली यक्षरात्रि इन दोनो को मिलाकर किसी समय एक महत्वपूण उत्सव की अवतारणा की गई होगी जिसने आज दीवाली का रूप ले लिया है और देश का बहुत बडा उत्सव बन गया है।

प्राचीन स्वरूप

दीवाली के उत्सव का यह रूप कब से शुरू हुआ इस पर विद्वानो ने बहुत अनुस धान किया है। पूना के भाण्डारकर शोध सस्थान के भूतपूव अध्यक्ष डा० पी० के० गोडे तथा अ य कुछ विद्वानो ने इसके इतिहास पर बडी खोज की और यह बताया कि आज जिस प्रकार लक्ष्मी पूजन दीपोत्सव और धन की पूजा की परम्परा इस उत्सव के साथ जुड गई है वह तो बहुत पुरानी नही है पर लगभग

इन्ही दिनो मे इस प्रकार के अनेक उत्सव मनाये जाते थे इस दृष्टि मे इसका स्रोत बड़ा पुराना है यह उनकी मान्यता है। मूलत होली और दीवाली दोनो फसल से जुड़े हुए उत्सव है। होली पर शीतकालीन फसल कटती है और दीवाली से पूर्व वर्षाकालीन फसल। इस तरह वदकालीन धान्योत्सव की परम्परा भी इन उत्सवो के आस पास के समय मे ही जुड जाती थी। लक्ष्मी के पूजन की परम्परा अवश्य ही कुछ परवर्ती मानी जाती है। प्राचीन पुराणो मे लक्ष्मी पूजन के वन पौष, चैत्र तथा भाद्रपद मे बताए गये हैं। स्कन्द पुराण मे लिखा है कि लक्ष्मी का पूजन पूर्णिमा को करना चाहिए। उस दिन गुरुवार हो तो और भी अच्छा। कृष्ण पक्ष मे और रात्रि मे पूजन का निषेध किया गया है।

इससे ऐसा लगता है कि वदिक देवता लक्ष्मी का पूजन अमावस्या को पहिले नही किया जाता था। सम्भवत आज से लगभग 5 सौ वर्ष पूर्व तान्त्रिक परम्पराओ के सम्पर्क के कारण अमावस्या को लक्ष्मी पूजन किया जाने लगा। तन्त्र मे कार्तिक की अमावस्या का बहुत महत्व बताया गया है। दुर्गासप्तशती मे (मार्कण्डेय पुराण) "कालरात्रि महारात्रि मोहरात्रिश्च दारुणा' लिखकर इस रात्रि को दुर्गा का रूप ही बता दिया गया है। इस दिन तन्त्र के उपासक रात्रि मे देवी की पूजा करते थे। लक्ष्मी का जो रूप तान्त्रिक है उसके साथ यह उत्सव जुड गया। इसका संकेत इस बात से भी मिलता है कि नीलमत पुराण, मत्स्य पुराण, पद्म पुराण आदि पुराणों मे कार्तिक की अमावस्या को लक्ष्मी पूजा का विधान कर दिया गया था। चूकि इन पुराणो के वर्तमान सस्करणो की प्राचीनता और समय सीमा निश्चित नही है अत यह स्पष्ट नही कहा जा सकता कि ऐसी लक्ष्मी पूजा कब से शुरू हुई। विजयनगर साम्राज्य मे 15वी सदी मे एक विशाल सन्दर्भ ग्रथ "आकाश भरव कल्प' लिखा गया था। उसम इसी दिन दीपोत्सव का भी विधान है और तान्त्रिक पूजा का भी। इससे यह प्रतीत होता है कि 15वी सदी में इस उत्सव का वह स्वरूप बन गया था जो आज है। उसके पूर्व के ग्रन्थो मे दीपोत्सव और लक्ष्मी पूजा एक साथ वर्णित नहीं मिलते। 11वी सदी मे भारत आए यात्री अलबरूनी ने कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को अर्थात् आज की दीपावली के दूसरे दिन दीपोत्सव का ही वर्णन किया है। इससे पूर्व लिखे गये ग्रन्थ यशस्तिलक व विश्वगुणादर्शचम्पू म भी दीपोत्सव का ही वर्णन है।

15वी सदी के बाद के सभी धर्म ग्रन्थो मे और भविष्य पुराण म दीपावली का वर्णन ठीक उसी प्रकार का मिलता है जसा आज मनाया जाता है अर्थात् दीपोत्सव लक्ष्मी पूजा लिपाई पुताई आदि सभी का विधान। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाणिज्य-व्यवसाय के बढ़ने के साथ साथ इस उत्सव का यह रूप विकसित होता गया। भविष्य पुराण का जो रूप वर्तमान मे मिलता है वह परवर्ती माना जाता है। उसमे भी यह उत्सव व्यापारियो के से उत्सव के रूप म विहित है

और बाजारों में रोशनी करने, शाम को लक्ष्मी पूजा करने और खुशियां मनाने का विधान उसमें किया गया है। इसी को आधार लेकर बहुधा यह कह दिया जाता है कि दीवाली प्रमुखत वैश्यो का उत्सव है विजयदशमी क्षत्रियो का, श्रावणी ब्राह्मणो का और होली शूद्रो का।

वर्तमान स्वरूप

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस उत्सव का उद्‌विकास अनेक शताब्दियो की प्रकाश यात्रा के बाद परम्पराओ के एक साथ समन्वित हो जाने के फल-स्वरूप आज से लगभग 5 सदी पूर्व हुआ होगा। इस दृष्टि से यह उत्सव दीपो के पर्व के रूप मे प्राचीन कौमुदी महोत्सव का उत्तराधिकारी है और लक्ष्मी पूजा के रूप मे प्राचीन तान्त्रिक पूजा का। एक सामाजिक पर्व के रूप मे यह शरत्कालीन उल्लास का उत्सव है। तभी तो वर्षा की समाप्ति के बाद घरो की सफाई, लिपाई-पुताई और सजावट की परम्परा इसके साथ जुडी हुई है। परवर्ती पुराणो और परवर्ती धर्मग्रन्थो की परम्परा में वर्तमान उत्सव के सारे पक्ष पूरी तरह स्पष्ट किए हुए मिलते हैं। भविष्य पुराण मे तीन प्रकार की स्वच्छता पर जोर दिया गया है। इनमे शरीर की स्वच्छता भी शामिल है। दीवाली के पहले दिन चतुर्दशी को अभ्यग (तेल मालिश) के साथ गर्म जल से स्नान का विधान है जो शीतकाल के प्रारम्भ की ऋतुचर्या का प्रतीक है। इसके साथ ही घरों की सफाई और लिपाई पुताई का विधान भी मिलता है। सार्वजनिक स्थानो और देवालयो की स्वच्छता को भी आवश्यक बताया गया है। इस सफाई के अतिरिक्त घरो मे, सार्वजनिक स्थानो म देवालयो मे और विशेषकर वाणिज्यिक केन्द्रो पर दीपवृक्ष समर्पित करने अथवा दीपपंक्ति रखने के विधान से यह आशय स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक प्रकाश की व्यवस्था को एक धार्मिक कर्तव्य बताकर इस उत्सव के साथ जोड दिया गया था।

लक्ष्मी पूजा बनाम धन पूजा

यह तो हुआ इस उत्सव का सामाजिक पक्ष। धार्मिक पक्ष मे इस दिन लक्ष्मी और कुबेर की पूजा का विधान है। मूलत लक्ष्मी वैदिक देवता है किन्तु वेदकाल मे वह शक्ति, शोभा और सौन्दर्य की देवी मानी जाती थी। उसे धन और समृद्धि की देवी मानना श्रीसूक्त नामक लक्ष्मी के स्तोत्र के समय से शुरू हुआ जो उपनिषद् काल के बाद की रचना मानी जाती है। वैसे तो यह श्रीसूक्त कभी ऋग्वेद का परिशिष्ट बताया जाता है कभी अथर्ववेद का, किन्तु इसका समय निश्चित न होने के कारण शोध विद्वानो की यह मान्यता है कि यह परवर्ती रचना है। इसमे पहली बार लक्ष्मी को धन धान्य, सोना चादी हाथी-घोडे देने वाली धन की देवी के रूप मे देखा गया है। तब से इसका सम्बन्ध धन से जुड गया। आज तक भी लक्ष्मी के चित्र, गणेश के चित्र तथा अन्य देवताओ के पूजन के साथ दीवाली के दिन सिक्का

या नोटों तक की पूजा की रस्म चल रही है जिससे धन की पूजा वाली परम्परा लक्ष्मी पूजन के साथ जुड़ गई है। उल्लेखनीय है कि लक्ष्मी के साथ धन धान्य और समृद्धि की देवी होने की मान्यता यक्ष संस्कृति की देन है। यक्ष संस्कृति भारत के उत्तर में विकसित हुई थी जो आमोद प्रमोद नृत्य, गीत आदि की स्वस्थ परम्परा की पोषक थी। इस संस्कृति की सौरी देवी धन और ऐश्वर्य की देवी थी और कालकर्णी कुरूपता और दरिद्रता की। कुबेर इसी यक्ष संस्कृति का देवता था। वह भी आज तक धन और ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता है। यही कारण है कि कुछ धर्म ग्रन्थों में लक्ष्मी और कुबेर की एक साथ पूजा का दीवाली के दिन विधान मिलता है। इस यक्ष संस्कृति का प्रतिफलन तान्त्रिक परम्परा में हुआ। कमला नाम की महाविद्या जो लक्ष्मी का ही रूप है, धन और ऐश्वर्य की देवी मानी जाती है और धूमावती नाम की एक अन्य महाविद्या दरिद्रता और कुरूपता की देवी।

धन धान्य, ऐश्वर्य और समृद्धि की देवी कमला का पूजन दीवाली की शाम को किया जाता है। पुराणों में लक्ष्मी का ध्यान चार हाथियों द्वारा नहलाई जाने वाली कमल पर बैठी चार हाथ वाली देवी के रूप में किया है, यदि विष्णु के साथ उसका ध्यान किया जाता है तो अवश्य ही दो हाथों वाली देवी के रूप में। इसके चार हाथों में कमल वरमुद्रा और अभयमुद्रा है। इस ध्यान का रहस्य क्या है? वस्तुतः लक्ष्मी या श्रीदेवी, भू देवी अर्थात् पृथ्वी का प्रतीक है। पृथ्वी को बादल के समान चार दिशाओं से चार हाथी नहला रहे हैं। पुराणों में भू मण्डल और भुवनकोष की कल्पना एक कमल के रूप में की गई है। इसी पद्म पर यह श्रीदेवी (भू देवी) बैठी हुई है। पुराणों में धन लक्ष्मी गज लक्ष्मी धान्य लक्ष्मी आदि विविध रूपों में लक्ष्मी की कल्पना मनुष्य की लोकेषणा के प्रतीक के रूप में की गई है। इस लक्ष्मी के साथ कुबेर का या गणेश का पूजन उस यक्ष संस्कृति का अवशेष है जिससे लक्ष्मी को धन की देवी के रूप में हमने लिया था। पुराणों का जो वाहन उल्लू आज तक इसके साथ जुड़ा हुआ है वह भी यक्ष संस्कृति की सौरी देवी का अवशेष है। तान्त्रिक लक्ष्मी के प्रसंग में उलूक वाहन को यक्ष संस्कृति से ही लिया गया है। आज भी तान्त्रिक क्रियाओं में उल्लू का प्रतीक जुड़ा हुआ है।

उपर्युक्त धार्मिक परम्पराओं का महत्व पौराणिक, तान्त्रिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से कार्तिक की अमावस्या के दिन लक्ष्मी पूजन के साथ जुड़ गया और दीपोत्सव के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। चूंकि शरत्कालीन सारे उत्सव एक साथ इन्हीं दिनों में केन्द्रित हो गये अतः दीपोत्सव तीन, चार या पांच दिन तक चलने लगा है।

उत्सव परम्परा

दीपावली की उत्सव परम्परा कार्तिक कृष्ण द्वादशी से ही शुरू हो जाती है जिसे गोवत्स द्वादशी कहा जाता है। इससे भी इस उत्सव चक्र के कृषि आधारित

होने का सकेत मिलता है। गोवत्स द्वादशी को गाय बछड़ों की पूजा होती है जो गोधन के महत्व का प्रतीक है। दूसरे दिन यमत्रयोदशी मनाई जाती है। इस दिन यमराज के लिए आधी रात के समय दीप समर्पित किये जाते हैं और मृत्यु के देवता यमराज से अकालमृत्यु के निवारण के लिए प्रार्थना की जाती है। सम्भवत यह प्रथा आगामी शीतकाल की भीषणता से संघर्ष और उस पर विजय प्राप्त करने की कामना की प्रतीक है। दूसरे दिन नरक चतुर्दशी को वर्षा ऋतु के द्वारा लाई गई अस्वच्छता का घरो से निर्वासन करने हेतु जिस प्रकार सफाई और लिपाई पुताई विहित है उसी प्रकार शारीरिक अस्वच्छता का सम्मार्जन भी उल्लिखित है जिससे दूसरे दिन लक्ष्मी पूजा के समय चारो ओर स्वच्छता और सौन्दर्य दिखलाई दे। शीत ऋतु के आगमन पर शरीर के अभ्यंग (मालिश) और गर्म जल से स्नान का आरम्भ भी इसी दिन से पुराणो मे वर्णित है। अन्य प्रकार के शरीर स्वच्छकारी पदार्थों जैसे अपामार्ग नामक वनस्पति का उपयोग (स्नान के साथ) भी बतलाया गया है।

दीपावली के दूसरे दिन तीन उत्सव होते हैं। इन्द्र की पूजा की सामन्ती परम्परा के विरुद्ध श्रीकृष्ण द्वारा स्थानीय गोवर्धन पर्वत की पूजा की कृषकोचित परम्परा की स्थापना की स्मृति मे गोवर्धन की पूजा तथा गाय बछड़ों की पूजा की जाती है। मन्दिरो मे विभिन्न पकवानो का भोग लगाकर "अन्नकूट" मनाया जाता है। इसी दिन राजा बलि की पूजा की जाती है जिन्होंने समस्त त्रैलोक्य का विजय किया था और बाद मे वामन स्वरूप विष्णु को उसका दान कर दिया था। इस दिन किसी सार्वजनिक मार्ग पर ऊची बन्दनवार बाधकर उसके नीचे से गुजरने की एक प्रथा मार्गपाली (बन्दनवार जैसी कोई वस्तु) के नाम से प्रचलित है। इस अवसर पर सामन्त लोग तथा सामान्यजन एकत्र होते थे और "रस्साकशी" जैसा कोई खेल होता था जिसका विस्तृत वर्णन पुराणो मे मिलता है। इसके एक ओर राजवर्गीय और सामन्त होते थे दूसरी ओर जनसाधारण। सामान्यजनो की यदि इसमें जीत होती थी तो उसे शुभ शकुन माना जाता था और इसे राज्य की वर्ष भर समृद्धि का प्रतीक माना जाता था। इसी का एक अन्य स्वरूप महाराष्ट्र मे विकसित हुआ जिसमें गोविन्दा आला रे" गाते हुए सामान्यजन सार्वजनिक मार्ग में बहुत ऊचाई पर लटकी मटकी को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उसे चढकर जीत लेने वाले व्यक्ति का सम्मान किया जाता है। इस दिन वरिष्ठ मित्रो और उच्चाधिकारियो को शुभकामनाएँ समर्पित करने जाने की परम्परा सम्भवत सामन्तो और सामान्यजनो के उसी मध्यकालीन सगम से पनपी है जो 'मार्गपाली' के नाम से पुराणों मे अभिहित मिलता है। इसके दूसरे दिन यमद्वितीया" होती है। ऐसा माना जाता है कि इस दिन यमराज अपनी बहिन यमुना के यहा आये थे और भोजन किया था। इसी आधार पर इस दिन बहिनें भाई को बुलाती हैं और

भोजन कराती हैं। इस प्रकार भाईदूज के साथ इस उत्सव परम्परा की समाप्ति होती है।

विविध महत्त्व

पिछली कुछ शताब्दियों से दीपावली वर्ष भर का सबसे बड़ा उत्सव बन गया है। गुजरात में तो इसे वर्षारम्भ का उत्सव माना जाता है। इसके दूसरे दिन से बहीखाते बदले जाते हैं और नया वर्ष शुरू किया जाता है। राजपूताने की देशी रियासतों में भी भाई दोज वाले दिन कलम दवात की पूजा की जाती थी बही खाते बदले जाते थे। जैन समाज में भी इसे वर्ष का सर्वाधिक महत्त्व का उत्सव माना जाता है। यह महावीर का निर्वाण का दिन है। महावीर निर्वाण सम्वत इसके दूसरे दिन से शुरू होता है। हो सकता है इसी कारण अनेक प्रान्तों में इसे वर्षारम्भ का दिन माना जाने लगा हो। बही खाते के बदलने में भी जैन परम्परा का प्रभाव परिलक्षित होता है। दीपोत्सव का उल्लेख भी प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलता है। कल्प सूत्र में कहा गया है कि वीर निर्वाण के साथ जो अन्तर्ज्योति सदा के लिए बुझ गई है आओ हम उसकी क्षतिपूर्ति के लिए बहिर्ज्योति के प्रतीक दीप जलाएं। ऐसे प्राचीन उल्लेखों से जैन परम्परा में इस उत्सव की प्राचीनता प्रमाणित होती है। यही स्वामी रामतीर्थ का निर्वाण दिन भी था। महर्षि दयानन्द का निर्वाण दिन होने के कारण आर्य समाज में भी इसका महत्त्व है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है आर्य संस्कृति शीतप्रधान जलवायु में विकसित हुई होगी अतः हमारे यहां के उत्सव शीतकाल के चले जाने के बाद होली से शुरू होते हैं और दीवाली तक आते आते समाप्त हो जाते हैं। दीवाली की उत्सव परम्परा के साथ प्रमुख धार्मिक उत्सव खत्म हो जाते हैं। जाड़ों के दिनों में विशेष सामाजिक और धार्मिक उत्सवों का विधान नहीं मिलता। एक यह कारण भी है कि दीवाली न केवल वर्ष भर का एक प्रमुख धार्मिक उत्सव बन गई है बल्कि लोकोत्सव और धार्योत्सव के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गई है।



राष्ट्रीय शक संवत्सर

अब तो इस देश की भी ऐसी आदत बन गई है कि ग्रेगोरियन कलेण्डर के नये साल के शुरू होने पर ही नव वर्ष के प्रारम्भ का एहसास सबको होता है। क्यों न हो? सारा देश इसी वर्ष की तारीखों से पत्राचार करता है। दफ्तरों में इसी दिन डिस्पेच रजिस्टर बदले जाते हैं, नये नम्बर शुरू होते हैं। रविवार की छुट्टी को सारे देश ने साप्ताहिक अवकाश का दिन मान लिया है और आधुनिक नगरजीवन की सारी गतिविधियां इसी कलेण्डर से नियन्त्रित होती हैं। आधुनिक नागरिक पीढ़ी में भारतीय संस्कृति की इतनी सी पहचान अवश्य बची है कि होली दीवाली के त्योहार हमारे पुराने विक्रमी पचांग के अनुसार मनाये जाते हैं। उनकी भी यदि सरकारी छुट्टी घोषित न हो तो शहरों की नयी पीढ़ी के लिए उनकी यादें भी शायद धूमिल होती जायें। फिर भी उनके कारण अब भी चैत्र-वशाख जैसे मासों की यादें मार्च अप्रैल के साथ साथ जीवित हैं। इसमें लज्जा की विशेष बात भी नहीं है। ज्यों ज्यों दुनिया छोटी हो रही है, देश एक दूसरे के निकट आ रहे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सव्यवहार बढ़ रहे हैं त्यों त्यों अंकों में, गणित में वाणिज्य में ऐसी पद्धतियां अपनाई जा रही हैं जिनसे विश्व के सभी देश एकरूपता के साथ एक दूसरे से सम्पर्क कर सकें। कलैंडर का भी यही हाल है। विदेशों की यात्रा करनी हो तो एक ऐसा कलैण्डर आवश्यक होगा ही जो सारे विश्व में चल सके। यही कारण है कि यह क्रिश्चियन वर्ष गणना और ग्रेगोरियन कलैण्डर एक तरह से अन्तर्राष्ट्रीय कलैण्डर हो गये हैं।

राष्ट्रीय पर्व

इसके बावजूद इस देश की परम्पराओं से प्रेम रखने वाले व्यक्तियों के मन में यह बात अवश्य उठती रही है कि क्या यह देश सदा से इसी कलैण्डर के मुताबिक अपने साल बदलता आया है? क्या हमारा अपना कोई कलैण्डर, अपना वर्ष नहीं है? इस प्रकार की भावनाएं आजकल तो शायद उतनी तीव्र न हों जितनी स्वतन्त्रता के ठीक बाद थीं। वसे स्वतन्त्रता के बाद अपने बच्चों को अंग्रेजी मीडियम स्कूलों में दाखिल करवाने और उनके मुंह से "बा बा ब्लैक शीप" पोयम सुनकर पुलकित होने वालों की संख्या घटने की बजाय बढ़ी है किंतु जब संविधान बना था उस समय प्रत्येक क्षेत्र में अपने देश की परम्परा के प्रति लगाव कुछ अधिक ही था।

उन्हीं दिनों यह लहर आई थी कि हम अपने वर्ष और पचांग भी अपनी परम्परा के अनुसार क्यों न रखें ? जब हमने अपना झंडा, अपना राष्ट्रगीत, अपनी भाषा और अपना संविधान अलग कर लिया है तो फिर क्रिश्चियन वर्ष और ग्रेगोरियन कलण्डर को भी क्यों न बदलकर अपना कलैण्डर शुरू किया जाये ? इसमें कठिनाई केवल यही थी कि इस प्राचीन देश में लगभग 30 तरह के पचांग चल रहे थे जिनमें विक्रमी, सौर, पंजाबी, शालिवाहन आदि अब तक चल रहे हैं। दूसरे विक्रमी पचांग खगोल और सूर्य चन्द्र का इतना ध्यान रखता है कि चन्द्रमा की गति के कारण इसकी तिथियां घटती बढ़ती और टूटती रहती है। तभी तो दीवाली किस दिन मानी जाए इसका भी वाद विवाद होता रहता है। इन पचांगों के अनुसार कभी तीन साल में एक महीना बढ़ाना पड़ता है और कभी कम भी हो जाता है। सारे देश में एक तरह की वर्ष गणना चले और महीने लगभग बराबर हों तो यह झगड़ा न रहे। ग्रेगोरियन कलण्डर में यही तो फायदा है। केवल चौथे वर्ष में एक दिन बढ़ाना पड़ता है। इन सभी भावनाओं का ज्वार आज से 30 वर्ष पूर्व इतना अधिक उमड़ा कि बात केन्द्रीय सरकार तक पहुंची। तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू प्राचीन परम्पराओं का आदर करते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के हामी थे। वे वैज्ञानिकों का बहुत सम्मान करते थे। ऐसे ही एक मुख्य वैज्ञानिक थे डाक्टर मेघनाद साहा। उनकी अध्यक्षता में एक पचांग संशोधन समिति बनाई गई जिससे यह निवेदन किया गया कि विश्व के कलण्डरों और इस देश के सभी पचांगों का अध्ययन कर एक ऐसा राष्ट्रीय पचांग बनायें जो हमारी परम्पराओं के अनुरूप भी हो और वैज्ञानिक भी हो साथ में सुविधाजनक भी हो ताकि सब लोग समझ सकें और तिथियों, पखवाड़ों के उतार चढ़ाव से मुक्त हों।

इस समिति ने वर्षों तक सारे पचांगों का गहन अध्ययन किया और सैंकड़ों विद्वानों और ज्योतिषियों के साक्ष्य लिये। उन्होंने पाया कि हमारे पचांग में तिथियों आदि की जो असुविधा है उसे हटाना होगा। जो अच्छाइयां और वैज्ञानिकता हमारे यहां है उसे कायम रखते हुए तथा विश्व के अन्य कलण्डरों की सुविधाओं का समावेश करते हुए उन्होंने एक राष्ट्रीय पचांग की सिफारिश की। इस समिति की रिपोर्ट इतनी विद्वत्तापूर्ण और वैज्ञानिक दस्तावेज थी कि उसका अध्ययन आज भी रोमांचित कर देता है। इसकी भूमिका श्री जवाहरलाल नेहरू के संदेश से आरम्भ होती है जिसके बाद डॉ. मेघनाद साहा ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय पचांग का महत्व बतलाया है। इसकी अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर भारत सरकार द्वारा आज से तीन दशक वर्ष पूर्व ही 22/3/57 से वह राष्ट्रीय पचांग लागू भी कर दिया गया था किन्तु हुआ यह कि वह केवल सरकारी कलण्डरों में छपकर रह गया। उसके अनुसार न तो देशवासियों ने कलण्डर और डायरियां बदलना शुरू किया न

सरकारों ने। अब तो यह ऐतिहासिक और याद करने की वस्तु ही बनकर रह गया है। खूबी यही है कि उसकी याद भी ऐसे ही अवसरों पर आने लगी है जैसे नये क्रिश्चियन साल की शुरूआत पर।

देखा जाये तो इस राष्ट्रीय कलण्डर की अवधारणा बहुत सरल भी थी और वैज्ञानिक भी। विद्वानों और जन नेताओं के थोड़े से प्रयत्न से वह लोकप्रिय हो सकता था। आज इस प्रसंग में उसके कुछ प्रमुख बिन्दुओं को याद करना अप्रसांगिक नहीं होगा।

जिस समिति में डाक्टर मेघनाद साहा और निर्मल चन्द्र लाहिड़ी जैसे विश्व विख्यात वैज्ञानिक व खगोल के विद्वान् हों उसकी सिफारिश कितनी परिमार्जित और व्यवहारिक होगी यह स्वत ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस समिति ने भारतीय पंचागों की सारी असंगतियों के निराकरण की दृष्टि से तथा विश्व के पंचागों से समन्वय की दृष्टि से एक तो यह तय किया कि प्रत्येक वर्ष 365 2422 दिन का हो। इससे हर तीसरे साल अधिक मास रखने की नौबत नहीं आयेगी। दूसरे ग्रेगोरियन कलैण्डर प्राय सारे विश्व में चल रहा है इसलिये उसकी गणना से पूरा तालमेल रखकर राष्ट्रीय कलैण्डर बनाने का उनका निर्णय भी बहुत उचित था। उन्होंने यह भी तय किया कि कृष्ण और शुक्ल पक्ष नहीं रहेंगे, केवल 30 या 31 तारीखें महीनों में रहेंगी। ईसाई कलण्डर में किस मास में 30 दिन होंगे किसमें 31, इसका क्रम जटिल है। इसकी बजाय राष्ट्रीय पंचाग में यह किया गया है कि प्रारम्भ के 6 महीनों में 31 दिन रहें और बाद के 6 महीनों में 30। इस प्रकार 365 की गणना पूरी हो जायेगी। अंग्रेजी लीप इयर के साथ तालमेल रखने के लिये यह अवश्य किया गया कि जब लीप ईयर आये तो यहां भी चैत्र के 31 दिन करके 366 दिन कर लिये जायें। इस प्रकार चैत्र मास से भाद्रपद मास तक 31 दिन के महीने और आश्विन से फाल्गुन तक 30 दिन के महीने होंगे। यह सायन गणना' कहलाती है और इससे ऋतुओं से तालमेल बना रहता है क्योंकि यह सूर्य के अनुसार चलती है। भारत में बंगाल और दक्षिण में वैसे भी सारे त्यौहार सूर्य के अनुसार मनाये जाते हैं इसलिये भारतीय संस्कृति के यह पूर्णत अनुकूल है।

ईसाई कलैण्डर जाड़ों में (जनवरी) शुरू होता है जो न तो ऋतु की शुरुआत है, न फसल की। हमारे कलैण्डर में ऐसा कुछ तुक तो होना ही चाहिये कि वह या तो ऋतु चक्र से शुरू हो या फसल चक्र से। अन्यथा यह करना पड़ता है कि कलण्डर वर्ष तो जनवरी से शुरू होता है पर वित्तीय वर्ष अप्रेल से मानना पड़ता है। यह असंगति अब तक बनी हुई है इसी असंगति को दूर करने के लिये समिति ने राष्ट्रीय पंचाग का आरम्भ चैत्र से यानि वसन्त के प्रारम्भ से किया जो 22 मार्च से शुरू होता है और जिस दिन रात और दिन बराबर होते हैं। यह फसल चक्र से भी जुड़ा है और ऋतु चक्र से भी। हमारे यहां प्राचीनकाल से वसन्त ऋतु से साल शुरू होता था शिशिर पर समाप्त। ठीक यही समय रबी और खरीफ की फसलों के पकने का था। राष्ट्रीय पंचाग में दोनों का तालमेल बैठ गया है किन्तु इस पर किसी ने

इतना ध्यान दिया होता और इसकी अनुपालना पूर्णतः की गई होती तो आज वित्तीय वर्ष बदलने पर विचार न करना पड़ता। चूंकि राष्ट्रीय पंचांग वसंत से शुरू होता है याने चैत्र मास से और फाल्गुन पर याने शिशिर ऋतु में समाप्त होता है अतः इसे वित्तीय वर्ष यूं की यूं माना जा सकता है।

समिति ने यह तय किया कि वर्ष गणना वही रखी जाये जो शालिवाहन शक की है और भारत में लगभग दो हजार वर्षों से चल रही है। यह भी सौर वर्ष से मेल खाती है इसलिये ईसाई वर्ष से इसका तालमेल आसानी से बैठ जाता है। इसका एक सीधा फार्मूला समझने से सारी समस्या हल हो सकती है। शक वर्ष ईसा से 78 वर्ष बाद शुरू था। इसलिये ईसवी सन् में 78 वर्ष घटाने से राष्ट्रीय पंचांग का शक संवत् तुरंत निकल जायेगा। चूंकि वह प्रत्येक 22 मार्च से शुरू होता है और हर क्रिश्चियन मास की 22, 21 या 23 तारीख से चैत्र, वैशाख आदि मासों की शुरुआत होती है अतः दोनों गणनाएं समानान्तर रूप से आसानी से समझी जा सकती हैं। जो वर्ष ईसाई कलण्डर का लीप ईयर होगा उस वर्ष चैत्र का प्रारम्भ 21 मार्च को होगा बाकी सब वर्षों में 22 मार्च को। लीप ईयर में चैत्र के 31 दिन होंगे। इस हिसाब से 1 जनवरी, 1985 को शक सम्वत् 1906 के पौष की 11 तारीख होगी। शक वर्ष 1907 22 मार्च 1985 को चैत्र मास के साथ प्रारम्भ होगा। इस प्रकार यह राष्ट्रीय वर्ष भारतीय संस्कृति और ईसाई कलण्डर दोनों का आदर्श समन्वय करते हुए बना है।

भारतीय पंचांग और ईसाई कलण्डर का मूल अंतर यह है कि हमारे यहां तारीख की शुरुआत सूर्योदय से मानी जाती है और ईसाई कलण्डर में आधी रात से। इसके साथ तालमेल रखते हुए शक संवत् की तिथि का आरम्भ भी अर्द्ध रात्रि से मानने का निर्णय हुआ। भारत एक विस्तृत देश है जिसमें अनेक अक्षांशों और देशान्तरों पर बसे प्रान्त शामिल हैं। इन सबकी खगोलीय गणना अलग अलग होती है। इसमें तालमेल बैठाने के लिये यह तय किया गया कि उज्जैन का जो अक्षांश होगा उसे भारत का मध्य अक्षांश मानकर पंचांग की गणना की जाये। यह प्रथा बहुत पहले से हमारे यहां चल रही थी। पाश्चात्य गणित ग्रीनविच के समय को और देशान्तर को मध्यमान मानकर चलता है। हमने भी ग्रीनविच के देशान्तर से पूर्व की ओर साढ़े पांच घंटे का अंतर मानते हुए अपनी गणना रखी। इससे भारतीय स्टेण्डर्ड टाइम वही निकलेगा जो ग्रीनविच से साढ़े पांच घंटे पहले होगा। इस प्रकार वैज्ञानिक यथार्थता के साथ साथ भारतीय संस्कृति का तालमेल बैठाते हुये यह राष्ट्रीय कलण्डर निर्धारित किया गया था। इसमें $23\frac{1}{4}$ अयनांशों को स्थिर मानते हुये तिथियों की गणना की जाती है जिससे हमारे त्यौहार इस पंचांग से जुड़ जाते हैं। थोड़ा सा अन्तर चन्द्रमा और नक्षत्रों की स्थिति में अवश्य पड़ता है किन्तु ऋतुओं की स्थिति स्थिर रहती है जिसका लाभ यह होगा कि सैकड़ों वर्षों तक

पचाग और ऋतुओ का तालमेल बना रहेगा। वरना आज की स्थिति तो यह है कि कालिदास के समय वसन्त ऋतु जब हुआ करती थी उसमे और आज म 23 दिन का फर्क पड चुका है। यहा आते आते बात जरा गहरी होने लगी है इसलिये इसे किसी और समय के लिये छोड दिया जाये।

हमारे निवेदन का तात्पर्य केवल यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय और विश्व नागरिकता के लिहाज से हम ग्रेगोरियन कलण्डर के अनुसार चल रहे है चलते रहे इसमे आपत्ति नही है किन्तु बडे परिश्रम से और देश के शीर्ष वज्ञानिको के सहयोग से जो राष्ट्रीय कलेण्डर हमने तयार किया है उसकी भी याद कभी कभी कर लिया करें। दिल्ली के कुछ हिन्दी अखबारो के अलावा अन्य समाचार पत्रो ने तो उसे राशिफल या पचाग के स्तम्भ तक ही सीमित रखा है, केवल आकाशवाणी प्रतिदिन अपने दिन की शुरूआत शक सम्वत् की तारीख बोलकर करती है। इन्ही से हम अग्रेजी महीनो के नामो के बीच आग्रहायण जसे मासो की भी याद रहती है। इस पचाग मे महीनो के सारे नाम (चत्र आदि) वही हैं जो विक्रमी पचागो मे, केवल मार्गशीर्ष को आग्रहायण कहा गया है जो पहले सुप्रचलित नाम था। भारत सरकार के कुछ कार्यालय अवश्य अपने पत्रो मे शक सम्वत् को तारीख भी देते हैं। ज्यो-ज्यो इसमें शिथिलता आती जायेगी इस राष्ट्रीय कलण्डर की रही सही याद भी खत्म हो जायेगी। इस स्मृति को जीवित रखने के लिये यदि कुछ किया जा सकता है तो उस पर सक्रिय विचार करना क्या हमारा कर्त्तव्य नही है? यह प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार इस शालिवाहन शक के अनुसार सर्वाङ्गपूर्ण राष्ट्रीय पचाग भी प्रकाशित करने लगी है। शक सम्वत् 1908 के ऐसे पचाग का विमोचन राष्ट्रपति ज्ञानी जलसिह ने किया था जो 5/ – के मूल्य पर देश भर मे उपलब्ध कराया गया। जहाँ तक शालिवाहन शक की वर्ष गणना का सम्बन्ध है जो इस राष्ट्रीय पचाग मे मान ली गई है, यह भारत की पुरानी काल गणना परम्परा है जो विक्रम सवत्सर के समान ही समादृत है। सभी पचागो मे एक श्लोक उद्धृत किया जाता है जिसके अनुसार कलियुग मे छ शक प्रवतक (सवत्सर चलाने वाले) राजा बताये गये हैं—(1) युधिष्ठिर (2) विक्रम (3) शालिवाहन (4) विजय (5) नागार्जुन (6) कल्की। शालिवाहन के बारे मे डॉ काशीप्रसाद जायसवाल जैसे इतिहासविदो का शोध है कि शकारि विक्रमादित्य द्वारा शकों के पराजय के बाद विक्रम के वशज केवल 72 वर्ष राज्य कर पाये, फिर शको का प्राबल्य हो गया। तब ई 78 मे विक्रम के पौत्र शालिवाहन (सातवाहन) ने शको को पुन जीतकर दूसरे शकविजय पर शालिवाहन शक (सवत्सर) चलाया। यहाँ शक सवत्सर के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। □

रोमन कलैंडर और भारत

इक्कीसवीं सदी के रथ की गूंज पास आने लगी है। शायद इसीलिए जो वर्ष बीत रहे हैं उनमें उसकी गूंज इतनी तेजी से सुनाई दी है कि सारा देश गुलदस्ते लेकर इक्कीसवीं सदी के स्वागत में खड़ा हो गया है। केवल कुछ साल ही इस तरह खड़े रहना है। किन्तु इन सालों में क्या हम यह नहीं सोचते रहेंगे कि इक्कीसवीं सदी को स्वागत का गुलदस्ता किस दिन भेंट करना है—1 जनवरी को जिस दिन अंग्रेजी साल शुरू होता है या 1 अप्रैल को जिस दिन वित्तीय वर्ष शुरू होता है या किसी और दिन ?

वैसे हमारे यहां जो वर्ष गणना पहले चलती रही थी, विक्रम संवत्सर की उसकी तो इक्कीसवीं सदी ही चल रही है। उसकी इक्कीसवीं सदी तो सन् 1943 में ही शुरू हो गई थी। उसकी इक्कीसवीं सदी का जन्म होते ही हमने स्वतन्त्रता को जन्मते भी देखा था। हमारी स्वतन्त्रता उसकी इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ से 4 साल ही छोटी है। पर जिस साल की तारीखें डालकर हम सारा कारोबार करते हैं उसकी वर्ष गणना में अर्थात् ईसाई कलैंडर से इक्कीसवीं सदी सन् 1999 के बाद ही आएगी। और हमने जो राष्ट्रीय शक संवत् स्वीकार किया है उसकी इक्कीसवीं सदी उससे भी 78 वर्ष बाद। वर्ष गणना कौन कौन सी चल रही है, कौन कौन से साल की शुरुआत कौन कौन से दिन होती है—पंचांग और कलैंडर के इस गोरख धंधे से आपको पिछले पृष्ठों में परिचित कराने का प्रयत्न किया जा चुका है।

यह विचार बहुत अर्से से चल रहा है कि हमारे यहां वित्तीय वर्ष जो अप्रैल से मार्च तक चलता है उसमें कुछ परिवर्तन कर या तो उसका तालमेल जनवरी दिसम्बर के वर्ष के साथ बैठा लिया जाए या राष्ट्रीय शक संवत् के साथ या फसल चक्र के साथ। इस मसले पर प्रसिद्ध वित्त विशेषज्ञ लक्ष्मीकान्त झा की अध्यक्षता में गठित समिति ने भी विचार किया था। और विविध पक्षों को जांचकर ही यह अभिमत व्यक्त किया था कि वाणिज्यक कलैंडर जनवरी दिसम्बर की व्यवस्था में बंधा हुआ है तो वित्तीय वर्ष भी इस ही माना जाए किन्तु किन्हीं कारणों से इसका कार्यान्वयन करना संभव नहीं पाया गया था। इस मसले पर जो अनेक मत पैदा हुए थे और

विचारविमश मे जितना समय लगाना पडा था उस पर आश्चर्य की आवश्यकता नही। भारत मे ही अनेक वप अलग अलग दिन शुरू होते है—राष्ट्रीय शक 22 मार्च को विक्रम सवत्सर चत्र मे और सौर सवत्सर मेप सक्राति को। जनवरी दिसम्बर वाली व्यवस्था को जो आजकल विश्व के बहुत बडे भूभाग मे चल रहा है, विश्व के विभिन्न देशो मे प्रतिष्ठित होने मे बहुत समय लगा था।

इस कलैंडर को अधिकाश व्यक्ति ईसाई या अग्रेजी कलैंडर मानते हैं पर वस्तु स्थिति कुछ और ही है। यह तो पहले बतलाया जा चुका है कि यह वास्तव मे रोमन कलैंडर है और आजकल जिस रूप मे चल रहा है वह रोमन कैथोलिक पोप ग्रेगरी तेरहवें की उपज है और 400 वप पुराना ही है, पर कुल मिलाकर यह तीन हजार वप पूव जन्मा या जब रोम बना था। इगलैंड मे तो ग्रेगोरियन कलैंडर को दो सौ वर्षों तक नही अपनाया गया था जूलियन कलैंडर ही चलता रहा था। सन 1582 मे ग्रेगरी ने इसे बदल दिया था पर इग्लैंड ने इसे माना 1752 मे।

1752 के बाद ही इग्लैंड आदि पाश्चात्य देशो मे अधिकृत रूप से कानूनी वर्षारभ की जनवरी-दिसम्बर वाली व्यवस्था शुरू हुई—इससे पूव सरकारी और अदालती डायरियो मे वर्षारम्भ एक जनवरी को नही होता था। वहा आज से सात सदी पहले से 25 माच का साल की शुरूआत होती थी अर्थात् तेरहवीं सदी से इगलैंड की अदालतो मे और सरकार मे वर्षारम्भ 25 माच का होता था जबकि उससे पूव बडे दिन को हुआ करता था—25 दिसम्बर को ठीक उसी तरह जैसे हम वित्तीय वप 1 अप्रेल से शुरू करते हैं। लगभग 5 शताब्दियो तक 25 माच से साल की अधिकृत शुरूआत करने वाले इगलैंड ने रोमन कलैंडर के साथ तालमेल बिठाने के लिए 1751 मे तय किया कि अगला सरकारी साल एक जनवरी से शुरू होगा। वसे फ्रास न 13 वप तक अपनी अलग खिचडी पकाते हुए सितम्बर से वर्षारभ माना था (जबसे उनकी राज्य क्राति सफल हुई थी) पर सन् 1806 से वहा भी एक जनवरी से ही सरकारी साल की शुरूआत होती है।

एक दिलचस्प तथ्य यह भी है कि इस रोमन कलैंडर मे भी जिसका वर्षारंभ लगभग गत दो सवा दो हजार साल से एक जनवरी को होता है सदा से इसी तारीख और महीने से साल शुरू होता हो सो ब त नही है। वास्तव मे इसमे भी 1 जनवरी से साल की शुरूआत अधिकृत रूप से सन् 153 ईसा पूव से घोषित की गई थी जबकि यह कलैंडर उससे भी पहले से चल रहा है। खोजी पडितो ने यह यह स्थापना की है कि सबसे पहले माच से साल शुरू होता था और दिसम्बर को समाप्त होता था और साल मे केवल 10 महीने होते थे। इसका एक प्रमाण तो आज तक इस कलैंडर के महीनो के नामो मे जीवित है। वह है सितम्बर अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर महीने जिनका अर्थ होता है सातवा आठवा, नवा और दसवा। जब रोमन कलैंडर शुरू हुआ था तब सितम्बर सातवा अक्टूबर आठवा नवम्बर नवा

दिसम्बर दसवा ही महीना था। बाद मे जब महिनो मे उलटफेर कर दिया गया तो ये क्रमश नवें से लेकर बारहवें महीने हो गये पर इनके नाम वे ही रहे, उन्हें बदलने का किसी को ध्यान ही नही आया।

नामो के साथ कभी कभा यही होता है। कुछ नाम आसानी से बदलते चले जाते हैं कुछ कभी नहीं बदलते। इन महीनो के नामो के साथ यह उक्ति बडे दिलचस्प तरीके से लागू होती है। इस कलेंडर का इतिहास पूणत अधिकृत रूप से तो अब तक नही लिखा गया पर जो जो खोजें हुई हैं उनस पता चला है कि यह रोमन कलडर शायद तभी से शुरू हो गया होगा जब से रोम बना। कहते हैं रोम एक दिन म नही बना (रोम वाज नाट बिल्ट इन ए डे) पर कितने दिनो मे बना यह भी किसी को नही मालूम और कब बना यह भी नही मालूम। माना यह जाता है कि रोम्यूलस सम्राट ने इसे बनाना शुरू किया कोई तीन हजार वष पूव। उसका उद्‌घाटन वष 754 ई पू माना जाता है। उस समय जो कलैंडर चलता था उसका साल बहुत छोटा था। केवल दस ही महीने होते थे—माच (जिसे मार्शियस कहा जाता था) से दिसम्बर तक। वह चन्द्र वष होता था—355 दिन का। तब जनवरी फरवरी का अस्तित्व ही नही था अत जनवरी से वष शुरू होने का प्रश्न हा कहा उठता ?

हुआ यह कि 10 महीनो के वष से जब ऋतुओ का तालमेल नहीं बठा तो अगले सम्राट नूमा पोपीलियस ने लगभग ईसा से सात सौ वष पूव दो महीने और जोड। दिसम्बर के बाद फरवरी आने लगा फिर जनवरी। तीन सौ वष तक यही हाल रहा। लगभग सन् 452 ई पू मे यह किया गया कि दिसम्बर के बाद पहले जनवरी आन लगा फिर फरवरी, पर वर्षा त 23 फरवरी को ही हो जाता था और कभी-कभी एक अधिक मास जोडना पडता था। पर उस समय भी वर्षारभ माच से होता था। इस तरह रोमन कलैंडर की शुरुआ त से ही वर्षारंभ माच से होता रहा चाहे साल 10 महीने का हो या बारह का। सितम्बर से दिसम्बर क्रमश सातवें से लेकर दसवें महीन बने रहे और इनके नाम भी साथक बने रहे। सन् 153 ई पू से जनवरी को वष का पहला माह घोषित किया गया और 1 जनवरी को साल का शुरुआत होने लगी, इसी दिन सम्राट जूलियस सीजर गद्‌दी पर भी बठा था। आज स 2138 वष पूव का वह साल महत्वपूर्ण है जिसने इस तारीख को नव वष दिवस बना दिया जो अब तक चला आ रहा है।

यह किसी को ध्यान नही आया कि सितम्बर से दिसम्बर तक के महीनों के नाम जिनके अथ क्रमश सातवें से दसवें तक होते हैं, अब बिलकुल असगत हो गये हैं अत उन्हें भी बदल दिया जाए। वसे पहले जुलाई और अगस्त महीनो के नाम भी जो उस समय पाचवें और छठे महीने थे उसी क्रम स थे क्विंटिलिस और सेक्सटिलिस याने पचम और षष्ठ, पर उनके नाम तो सम्राटो ने बदल दिये। एक सम्राट न

सितम्बर का नाम बदलने की कोशिश अपने नाम पर की तो थी पर वह नाम चल नही पाया। इस प्रकार इस कलैंडर के अन्य महीनो के नाम तो विभिन्न सम्राटों ने अपनी रुचि के मुताबिक बदल दिये पर ये चार महीने तीन हजार वर्षों से इन्ही नामो से जाने जा रहे हैं।

रोमन कलैंडर का प्रारम्भिक प्रथम मास मार्च 'मार्शियस'' था जो मास याने मगल के नाम पर बना था, दूसरा माह एप्रिलिस बसन्त के नाम पर। एप्रियर वहा फूल खिलने को कहते थे। मई माह का नाम था मेअस जो मेजा देवी पर पडा जिसे 1 मई को बलि चढाई जाती थी और जो बुध ग्रह की माता मानी जाती है जबकि जून का नाम जूनियस था जो जूनो नामक देवता पर पडा। इसके बाद के छ महीने अपने क्रम के कारण प्रारम्भ मे गिनती के नामो से बोले जाते थे क्विटिलिस (याने पाचवा) से लेकर दिसम्बर (याने दसवा) तक।

हुआ यह कि जूलियस सीजर ने जब रोमन कलैंडर मे सुधार कर उसे जूलियन कलैंडर नाम दिया तब उसने पाचवें माह को जो अब सातवा हो गया था अपने नाम पर जुलाई रख दिया क्योकि उसका जन्म इसी माह मे हुआ था। उससे अगले सम्राट आगस्टस सीजर ने उससे अगले माह सेक्सटिलिस को जो छठा था और अब आठवा हो गया था—बदलकर अपने नाम पर आगस्ट बना दिया क्योकि वह इसी माह मे गद्दी पर बठा था। बाकी के नाम यो ही बने रहे। इस प्रकार इस कलैंडर में सुधार का और नामो के परिवर्तन का क्रम तो शुरूआत से ही चल पडा था पर अन्तिम सुधार शायद वही रहा जो पोप ग्रेगरी त्रयोदश ने सन् 1582 मे किया था। तब से इसके वर्षारम्भ की तिथि भी वही है, वर्ष के दिनो की सख्या भी वही है और महीनो के नाम भी वही हैं काश उस समय अन्तिम चार महीनो के नाम भी बदल दिये जाते ताकि उनका अर्थ सातवें से दसवें तक का आभास न दे पर शायद उस समय यह किसी को नही सूझा। अब तो यह नाम भी इतने प्रचलित और रूढ हो चुके हैं और 1 जनवरी को वर्षारम्भ की परम्परा भी इतनी पुरानी हो चुकी है कि न तो इस ओर किसी का ध्यान जाता है, न इसके अतीत को खोजने की आवश्यकता अनुभव होती है। साल की शुरूआत पर गहराई से सोचते समय कुतूहलवश कभी कभी ही यह सारा अतीत इतिहास के दर्पण मे प्रतिबिम्बित हो पाता है।

□

विक्रम संवत्सर और भारतीय पंचांग

देश के सामाजिक और सांस्कृतिक सव्यवहारों का एक प्रमुख आधार दण्ड होता है वह कालमान या वर्षमान अथवा पंचांग जिसकी तिथियों से वहां के उत्सव, पर्व त्यौहार आदि नियमित और संचालित होते हैं। भारत में, इस दृष्टि से प्रमुखतः तीन पंचांग और तीन वर्षगणनाएं (अर्थात् संवत्सर) चल रही हैं। आधुनिक विश्व के अनुरूप ईसवी सन् की वर्षगणना तथा जनवरी, फरवरी आदि मासों का कलैंडर जिसे ग्रेगोरियन कलैंडर कहा जाता है, सरकारी तथा नागरिक सव्यवहारों में सुप्रचलित है। सांस्कृतिक पर्वों, उत्सवों आदि नियन्त्रित होते हैं विक्रम संवत्सर की वर्षगणना से तथा चैत्र, वैशाख आदि मासों के पंचांग से। इन दोनों के अतिरिक्त भारत का राष्ट्रीय शक संवत्सर जिसे चलाने का प्रयत्न भारत सरकार की पहल पर हुआ था और जिसमें शालिवाहन की वर्षगणना है तथा चैत्र वैशाख आदि मासों का, कुछ संशोधित रूप लिए पंचांग है, राजकीय या अधिकृत राज वर्ष के रूप में जीवित है, चाहे वह केवल कागजों पर ही हो।

वर्षगणना और पंचांग में थोड़ा सा मूलभूत अन्तर अब स्पष्ट हो गया होगा। जिस किसी वर्ष को '1' की संख्या देकर, संवत्सर गणना का प्रथम वर्ष मान कर चला जाता है वह संवत्सर होता है—जैसे शालिवाहन संवत्, विक्रम संवत्, ईसवी सन्। ये क्रमशः शालिवाहन के राज्यारोहण, विक्रम के विजय और ईसा के जन्म से शुरू हुई वर्षगणना के संवत् हुए। दूसरी ओर, वर्ष को जिस प्रकार मासों, सप्ताहों या तिथियों में विभाजित किया जाता है वह कलैंडर या पंचांग होता है।

इस लिहाज से देखा जाए तो भारत में दो तरह के ही पंचांग चल रहे हैं—एक तो ग्रेगोरियन कलंडर और दूसरा भारतीय पंचांग। तात्पर्य यह है कि विक्रमी पंचांग, शक संवत्सर के पंचांग या अन्य प्रान्तों में प्रचलित युगादि, संक्रान्ति आधारित सौर वर्ष इत्यादि पंचांगों में मासों, तिथियों आदि का विभाजन प्रायः समान ही है। इन सबकी जानकारी आज की नई पीढ़ी को बहुत कम है। वह तो कलंडर के नाम से ग्रेगोरियन कलैंडर को ही जानती है। यह कलंडर नगर जीवन के क्रियाकलापों में इतना घुल मिल गया है मानो वर्षों से भारत इसी के आधार पर अपना वर्ष चलाता आ रहा हो। फिर भी प्रबुद्ध मस्तिष्क को कभी कभी यह जिज्ञासा हो जाती है कि क्या भारत में सदा से यही सन् और यही कलैंडर चलता था? यदि नहीं, तो जब यह कलंडर नहीं था तब किस प्रकार हम तारीखें लगाते थे?

इसका उत्तर खोजने के लिये बहुत दूर जाने की आवश्यकता अब तक तो नहीं पड़ी है क्योंकि पुराने संवत्सरों के पचांग भी अब तक चल रहे हैं। समूचे देश में, नई रोशनी के बावजूद अब भी अधिकांश भारतीय परिवारों में विवाह के मुहूर्त इन्हीं पचांगों के आधार पर निकलते हैं—होली, दीवाली आदि सारे हिंदू त्योहार सारे भारत में इन्हीं पचांगों के अनुसार मनाये जाते हैं। ग्रामीण अंचलों में तो विशेषकर ये पचांग ही लोक जीवन के महत्वपूर्ण कार्यों को नियमित करते हैं। इन्हीं के आधार पर जन्म कुंडलियां बनती हैं। ग्रेगारियन कलेण्डर के प्रचलित होने से पूर्व विक्रम संवद् ही देश के अधिकांश राज्यों में प्रचलित था और इतिहासकार, ज्योतिषी, लेखक आदि ही नहीं, देशी रियासतों के दस्तावेज लेखक, न्यायाधीश और अधिकारी आदि भी तिथि का उल्लेख इसी विक्रम संवद् के आधार पर किया करते थे।

विक्रम संवत्सर का पचांग भी विश्व के अन्य पचांगों की तरह मासों में विभाजित है और आजकल चैत्र मास से शुरू होता है। उत्तर भारत में पूर्णिमा पर मास की समाप्ति मानी जाती है। किन्तु कुछ सदियों पूर्व तक सारे भारत में अमावस्या से मास की समाप्ति मानी जाती थी। आज के उत्तर भारतीय पचांगों में भी उसी के प्रतीक स्वरूप अब भी अमावस्या की तिथि को "30" के अंक से सूचित किया जाता है। इसी कारण विक्रम संवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को होता है। दूसरे शब्दों में चैत्र मास की जो अमावस्या मानी जाती है वह वस्तुतः फाल्गुन की अमावस्या होती है। दक्षिण भारत में व गुजरात आदि प्रान्तों में आज भी यही अमान्त मास गणना चल रही है। ऐसी गणना को कुछ प्रदेशों में युगादि कहा जाता है। हमारे यहां पूर्णिमान्त मास गणना होने के कारण फाल्गुन की पूर्णिमा को ही फाल्गुन मास समाप्त मान लिया जाता है अर्थात् होली पर फाल्गुन मास पूरा मान कर उसके दूसरे ही दिन से चैत्र कृष्ण प्रतिपदा मान ली जाती है और इस प्रकार फाल्गुन कृष्ण पक्ष को चैत्र कृष्ण पक्ष कहा जाता है। फिर नया वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शुरू होता है। अर्थात् अमान्त मास गणना के अनुसार ही विक्रमी वर्ष चैत्र मास के प्रारम्भ से चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को शुरू होता है।

विक्रम संवत्सर

विक्रमी वर्ष भारत की सांस्कृतिक थाती का अविभाज्य अंग है जो हजारों वर्षों से इस देश के इतिहास को आयाम देता रहा है। जिस प्रकार योरोप और इंग्लैंड के इतिहास में जूलियस सीजर द्वारा चलाया गया जूलियन कलेण्डर आज से चार सौ वर्ष पूर्व तक सारी गतिविधियों को नियन्त्रित करता था और उसके बाद से पोप ग्रेगरी द्वारा उसके संशोधन किये जाने पर ग्रेगोरियन कलेण्डर सारी पश्चिमी दुनिया में व्याप्त है उसी प्रकार विक्रम संवत्सर और भारतीय पचांग के अनुसार ही भारत हजारों वर्षों से अपने उत्सव-पर्व आदि मनाता रहा है।

विक्रमी संवत् को शुरू हुए 2045 वर्ष बीते माने जाते हैं। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि यह वर्ष गणना किसने शुरू की इस पर विद्वानों ने बड़ी अटकलें लगाई हैं और अब तक उनमें मतैक्य नहीं हुआ है। इसका प्रमुख कारण है विक्रमादित्य के व्यक्तित्व का रहस्यमय होना। यह विक्रमादित्य कौन था, कहां का राजा था, कब गद्दी पर बैठा था इसका सर्वशुद्ध ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने का परिणाम यह हुआ है कि परम्परावादी तो शकारि विक्रमादित्य नामक एक राजा को 2045 वर्ष पूर्व उज्जयिनी राजधानी में राज करने वाला प्रतापी नरेश मानते हैं, जबकि शोध विद्वानों का कहना है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से पूर्व विक्रम'' आदित्य' आदि शब्दों का कहीं प्रयोग न मिलने के कारण उज्जयिनी नरेश केवल परंपरा में ही जीवित हैं।

आज से लगभग आधी सदी पूर्व जब विक्रम संवत्सर के दो हजार वर्ष पूरे हुए थे तो देश में विक्रम द्विसहस्राब्दी समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया था। उस अवसर पर भी देश के मूर्धन्य इतिहासकारों ने विक्रमादित्य के जीवन रहस्य और इतिहास पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला था किन्तु उसका विवरण अभी न देकर इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा कि उस समय भी अधिकांश इतिहासकारों की धारणा थी कि उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के बारे में ऐतिहासिक मतभेद होने पर भी यह तो निर्विवाद ही है कि इस संवत्सर गणना का प्रारम्भ ईसा से 57 58 वर्ष पूर्व मालव राज्य में हुआ था। इसी कारण इसे प्राचीन शिलालेखों में ''मालव वर्ष कहा गया है। प्रारम्भ में इसे 'कृत'' वर्ष भी कहा जाता था जो अनेक प्राचीनतम शिलालेखों में उल्लिखित है। आठवीं सदी के बाद इसे विक्रम संवत्सर कहा जाने लगा। इस वर्ष गणना से पूर्व सत्य त्रेता द्वापर कलियुग वाली चतुर्युगी वर्षगणना चलती थी जिसके अनुसार कलियुग को शुरू हुए पांच हजार से कुछ अधिक वर्ष हो गये हैं। विक्रम संवत्सर और विक्रमी पंचांग इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके प्रारम्भ होने के बाद अन्य सारे पंचांग लुप्तप्राय हो गये। इसका प्रमुख कारण है इस देश का ज्योतिष पर अटूट विश्वास और इस पंचांग का पूर्णतः ज्योतिष पर आधारित होना तथा इसमें ज्योतिष की प्रत्येक जानकारी का समावेश।

पंचांग के पांच अंग होते हैं—तिथि (अर्थात् सूर्य और चन्द्र की आपेक्षिक स्थिति की कल्पित गणना संख्या की इकाई) वार (अर्थात् उस दिन सूर्योदय के समय प्रथम होरा का स्वामी कौन सा ग्रह होगा) नक्षत्र (अर्थात् उस दिन चन्द्रमा किस नक्षत्र पर दिखेगा) योग (अर्थात् सूर्य और चन्द्र की सम्मिलित गति की गणना की कल्पित इकाई) और करण (अर्थात् आधी तिथि को एक इकाई मानकर उसका कल्पित नाम)। 'पंचांग'' में इन सब के शुरू होने और समाप्त होने की सूक्ष्मतम गणित के अनुसार प्रतिपल की जानकारी दी हुई होती है।

ज्योतिष की दृष्टि से देखा जाय तो यह पंचांग ज्योतिष के गणित और फलित दोनों प्रकारों द्वारा वांछित समस्त जानकारी समाहित किये हुए रहता है।

इसमे सूय और चन्द्र के अतिरिक्त अन्य समस्त ग्रहो की गतियो का भी सूक्ष्म विवरण कुछ शताब्दियो से दिया जाने लगा है। ग्रेगोरियन कलैंडरो मे केवल महीने के दिनाक और वार दिये जाते हैं। जब ग्रहो की गति की जानकारी आवश्यक होती है तो उसकी तालिकाए वैज्ञानिको द्वारा प्रकाशित 'एफेमरीज' को देखकर बनानी पडती हैं। हमारे यहा ज्योतिषी उन सब तालिकाओ और सारणियो को एक साथ पचाग मे छापकर सस्ते मूल्य पर घर घर मे सदियों से उपलब्ध कराते रहे हैं। इस दृष्टि से यह पचाग केवल वज्ञानिक आवश्यकताओ को पूरा करने हेतु शुद्ध गणितीय दृष्टिकोण से ही प्रारम्भ किया गया होगा, यह इसके देखने से ही स्पष्ट हो जाता है।

विश्व के अन्य कलैण्डर

यह पचाग भी वर्षों और मासो मे बटा हुआ है पर इसकी यह विशेषता है कि इसमे हर साल 12 महीने के ही हो यह जरूरी नही है जबकि विश्व के अधिकाश अन्य पचागो म हर साल 12 महीन के हो होते हैं। भारत के सभी पचागो की प्राय यही स्थिति है। ऊपर बताया जा चुका है कि पचाग और वर्ष गणना (याने सवत्सर अथवा 'शक') मे अन्तर है। विक्रमी वषगणना जो विक्रम सवत्सर के नाम से जानी जाती है मालवगण की विजय के वष को 1 का अक मान कर बनाई गई थी। ऐसे सवत्सर गणना के क्रम भारत मे ही अनेक हैं कुछ युधिष्ठिर सवत् मानते हैं, कुछ बुद्ध ज म से वषगणना करते हैं, कुछ महावीर जिन के निर्वाण काल से। गोस्वामी तुलसीदास से "तुलसी सवत्" भी चल गया था। शालिवाहन "शक" अलग चल रहा है। उसी की वषगणना मानते हुए भारत सरकार का शकाब्द अलग है। भारतीय ज्योतिषी बताते हैं कि कलियुग मे युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन, विजय और नागाजु न ने अपनी अपनी सवत्सर गणना भारत मे प्रचलित की और अब कल्की करेंगे। यही बात बताते हुए एक श्लोक हर पचाग मे लिखा जाता है पर पचाग विभाजन भारत के सभी पचागो का प्राय एक ही प्रकार का है। वषप्रवेश कही चैत्रारभ से माना जाता है कही मेष सक्रांति से (जसे पजाब, बगाल, केरल आदि में जहाँ सौर वष चलता है)।

विश्व के पचाग या तो प्रमुखत सूय पर आधारित हैं, या चन्द्र पर। सूय की परिक्रमा पृथ्वी लगभग 365¼ दिन मे पूरी करती है अत सौर पचाग प्राय 365 दिन के होते हैं। सूय से मौसम बदलते हैं अत सौर गणना वाले पचाग से मौसम की जानकारी तुरन्त हो जाती है। ऊपर हमने जिन जूलियन और ग्रेगोरियन कलण्डरो का हवाला दिया है वे सूय की गति (याने पृथ्वी की सूय के चारो ओर गति) पर आधारित हैं। तभी यह जानकारी तुरन्त हो जाती है कि हर वष 14 जनवरी को मकर सक्रांति होगी, 13 अप्रैल को बसाखी, 21 जून का दिन सबसे बडा होगा 21 दिसम्बर सबसे छोटा 21 माच और 21 सितम्बर को रात दिन

बराबर होंगे। यह तो हुआ सौर वर्ष। कुछ पचांग प्रमुखतः चन्द्रमा पर आधारित हैं जैसे मुस्लिम वर्ष। ऐसे वर्ष प्रायः 354 दिन के होते हैं। चांद देखने की तारीख जानने में सुविधा हो इसलिये मुस्लिम धर्म ने चान्द्र संवत्सर माना। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा 27 दिन से कुछ अधिक समय में पूरी करता है और पृथ्वी की अपनी गति के कारण साढ़े 29 दिन बाद पुनः वहीं दिखाई देता है इसलिये उसे महीना मान कर 12 महीनों में 354 दिन का एक हिजरी वर्ष माना गया। इस गणना से यह जानना आसान है कि हर महीने की पहली तारीख चांद निकलने के बाद से शुरू होगी। किन्तु इससे मौसम की जानकारी नहीं होगी। मोहर्रम कभी जाड़े में, पड़ेगा, कभी वसन्त में, कभी हेमन्त में कभी अन्य ऋतु में।

सभी इस्लामिक देशों में यही पचांग और हिजरी संवत् चलता है जो 16 जुलाई 622 ई० को मोहम्मद साहब के मक्का से मदीना जाने की 'हिजरा' से शुरू हुआ माना जाता है। यूनान और रोम का ज्योतिष सूर्य पर आधारित होने के कारण योरप, इंगलैण्ड अमेरिका आदि में सौर पचांग चलता है। भारत ने सूर्य और चन्द्र की आपेक्षिकता को गणना का आधार माना और सौर और चान्द्र दोनों गणनाओं में साथ साथ सामंजस्य बठाते हुये सौर चान्द्र पचांग बनाना चाहा। इसलिये मास गणना पूरी तरह चन्द्रमा पर रखी गई पर सूर्य का भी लिहाज किया गया और वर्ष में 12 राशियों पर उसकी 12 संक्रान्तियां गिनी जाने लगीं। अब सूर्य और चन्द्र की गति में जो अन्तर है उसमें तालमेल कैसे बठे? क्योंकि इनमें प्रति वर्ष लगभग 10 11 दिन का अन्तर आता है।

इसी अन्तर में तालमेल बिठाने के लिये हर तीसरे साल लगभग 30 दिन और जोड़ने हेतु अधिक मास की अवधारणा की गई। इस प्रकार यहां हर तीसरे वर्ष में 13 महीने होते हैं सूर्य और चन्द्र इन दोनों के तालमेल के उद्देश्य के कारण इस पचांग में दोनों की गति की सदा जानकारी रहती है। हर महीने की पूर्णिमा को चन्द्रमा उस नक्षत्र पर रहेगा जिस नक्षत्र पर उसका नाम पड़ा है—जैसे चैत्र पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र पर वैशाख पूर्णिमा को विशाखा पर, ज्येष्ठ पूर्णिमा को ज्येष्ठा श्रावण (श्रवण) आश्विन (अश्विनी) कार्तिक (कृत्तिका), पौष (पुष्य) माघ (मघा) आदि। सूर्य ग्रहण हमेशा अमावस्या को, चन्द्र ग्रहण हमेशा पूर्णिमा को होगा। सूर्य, चन्द्र दोनों का आपेक्षिक दूरी के आधार पर शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष हमें बनाने पड़े—यानें अमावस्या को सूर्य व चन्द्र सदा एक रेखा में (साथ साथ) रहेंगे—पूर्णिमा को एक दूसरे के विपरीत बिन्दु पर। दोनों की आपेक्षिक स्थिति का हर बार ध्यान रखने के कारण तिथियों का घटना, बढ़ना और अधिक मास और क्षय मास मानना अनिवार्य हो ही जाता है। इस पर विस्तार का यहां प्रसंग नहीं है। यह बताना बेशक आवश्यक है कि यह आपेक्षिक और सूर्य चन्द्र में समन्वय वाली गणना केवल भारत में ही नहीं यहूदियों ने भी चलाई है। यहूदी ईसा से 3760 वर्ष पूर्व विश्व

की उत्पत्ति मान कर वहीं से वर्ष गणना प्रारम्भ करते हैं। उन्हें भी सूर्य चन्द्र की गतियों के अन्तर में तालमेल बिठाने के लिये 19 वर्ष के एक चक्र में हर सातवें साल एक अधिक मास मानना पड़ता है। उनका वर्ष शरत्काल में शुरू होता है—तिशरी माह की एक तारीख को, जैसे हमारा वर्ष आजकल वसन्त ऋतु से शुरू होता है। सदा से हमारा वर्ष वसन्त ऋतु से शुरू होता रहा हो सो बात नहीं है। बहुत प्राचीन काल में हमारे यहां भी पाश्चात्य देशों की तरह मार्गशीर्ष से वर्ष शुरू होता था। उधर इंगलैण्ड में बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक वसंत ऋतु (मार्च) से साल शुरू होता था। फ्रांस ने अठारहवीं सदी में अपने प्रजातन्त्र की स्थापना के दिन से साल शुरू करने का प्रयत्न 22 सितम्बर 1792 से किया था। वहां सितम्बर से साल शुरू किया गया पर 13-14 साल के बाद इस स्थिति को बदलना पड़ा और अन्य पाश्चात्य देशों की तरह फ्रांस भी 1 जनवरी 1806 से वापस जनवरी से साल शुरू करने लगा। भारत में गत सौ, डेढ़ सौ वर्षों से 1 अप्रैल से वित्तीय वर्ष शुरू होता है।



प्राचीन वर्षगणनाएं

गत दो तीन सदियो से हम इस देश की जीवन की धडकनो को भी ईसवी वषगणना से नापते रहे है—इसलिए यह जनवरी दिसम्बर मार्का कलडर हमारी रग रग मे समा गया है—और हम सदियो को भी ईसाई वषगणना से नापने लगे हैं। हम ही क्यो ? दुनिया के बहुत से देश इसी पमाने से समय को नापते हैं आज। ठीक है। पर हम तो बहुत पुरानी सस्कृति वाले देश हैं। हमारी प्राचीनता से प्रभावित अनेक देश हमारी सस्कृति को कालजयी समझने भी लगे हैं।

यदि वे यह समझने लगे हैं तो अवश्य पूछेंगे कि आप जिस काल को ईसाई वषगणना के फीते से नाप कर बीस और इक्कीस सदियो का नापतोल कर रहे हैं, उसके अलावा भी क्या आपके पास कोई फीता है ? अवश्य है। इन फीतो के बारे मे हम पिछले पृष्ठो मे चर्चा कर चुके हैं पर फीते खत्म नहीं हुए। अनेक फीते रहे हैं हमारे पास। क्योकि हमने काल को एक बहुत बडे दायरे पर मापा था। हम जानते थे कि मनुष्य की आयु, उसके युग, सदिया सहस्राब्दिया इस काल की गति के आगे कुछ भी नही हैं। पृथ्वी की आयु के आगे मनुष्य की आयु कुछ भी नही है। सूर्य की आयु उससे भी बडी है। हमारे कलैंडर मे इन सबका लेखा जोखा रहता था। कुछ दिन हुए प्रसिद्ध वज्ञानिक काल सेगन की एक शृखलाबद्ध दूरदर्शनी फिल्म 'कासमोस' भारत मे भी दिखलाई गई थी। इसमे विश्व की अनादि सृष्टि का कालक्रम बताते हुए बडे रोमाचक ढग से दर्शाया गया था कि लाखो वर्षों से सृष्टि चल रही है और उसके कलैंडर वष के बहुत से मास तो तभी बीत गये थे जब मनुष्य का नामोनिशान भी नही था। मनुष्य तो उसके अ तिम दिसम्बर माह मे हाल ही मे पदा हुआ। यो मानो कि सृष्टि यदि जनवरी माह मे शुरू हुई तो मानव दिसम्बर माह की किसी तारीख को ही आया है। कितने युग हो गये सृष्टि को ? मानव तो हाल ही की उपज है।

सृष्टि का कलडर

ब्रह्माड का ऐसा कलडर काल सेगन ने ही बताया हो सो बात नही है। ऐसा कलैंडर हमारे यहां युगों युगो से सधारित किया जाता रहा है। यह तो हम सब जानते ही हैं कि ईस्वी वषगणना तो कुछ सदिया की ही पदादश है। जब हम

इतिहास को ईस्वी वर्ष के हिज्जे नही दिया करते थे तो विक्रम संवत्सर से उसे नापते थे। वह भी हमारी पुरानी गणना नही है नई पैदाइश ही है। यह अब भी हमारे देश मे खूब चल रही है। गांवो मे, हिन्दू संस्कारो मे होली दीवाली जैसे त्यौहारों मे इसी पचांग से गिनती होती है। इसके अलावा शालिवाहन शक (राष्ट्रीय शक) जैसी गणनाएं भी चल रही हैं। ये तो मानव इतिहास की युग गणनाएं हैं। जब ये सब ईजाद नही हुई थी उस समय सृष्टि के इतिहास की गणनाएं [illegible] थीं। इनमे प्रमुख थी सत्ययुग त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग की चतुर्युगी [illegible]। इनमे कलियुग का प्रारम्भ जब हुआ तब से आज तक के वर्षों की [illegible] एक कलेंडर की अवधारणा की गई जिसका नाम रखा गया "[illegible]"। उसे भी शुरू हुए लगभग 5 हजार से कुछ अधिक वर्ष हुए हैं। [illegible] रहा। इतनी बड़ी सृष्टि के अनादिकाल को इतने छोटे [illegible] सकता है? इसलिए इस कलेंडर के साथ ही सृष्टि शुरू होने [illegible] कलेंडर भी चलता रहा। अब भी हमारे [illegible] पचांग [illegible] विक्रम संवत्सर की शुरुआत पर हमें बताते [illegible] कि [illegible] वर्ष हुए हैं, तभी से चौथा युग कलियुग शुरू हुआ था। [illegible] वर्ष आदि। हो सकता है 5 हजार वर्षों [illegible] खगोलीय गणना के आधार पर प्रचलित [illegible] होगा?

इसका भी लेखा-जोखा [illegible] लेखा जोखा अरबों वर्षों का है [illegible] पोंगापंथियों की मनगढ़त [illegible] मे सृष्टिविज्ञान की ये गणनाएं [illegible] अलग मान्यताओं के आधार पर [illegible] तरह की आती है। [illegible] विभिन्न परंपराओं की कड़ियों [illegible] के नवीन पद्धति के निष्कर्षों से [illegible] इनमे मिलता है तो [illegible] कल्पनाओं मे भी कुछ [illegible] हैं जितनी कुछ जानकारी [illegible] कैसा है यह हमारा [illegible] यहां संधारित [illegible]

मौलिक इतिहास-[illegible]

के मुख मे सधारित किया जा रहा है तो किसी को विश्वास नहीं होगा। पर है कुछ ऐसी ही बात। हमारे यहा हर पारंपरिक कर्मकाड म जो 'सकल्प" पुरोहित द्वारा बोला जाता है उसमे यह कलैंडर पहले बताया जाता है। कम से कम वेदकाल से लेकर आज तक को कर्मकाडीय पद्धतियो मे तो यह लिखा मिलता ही है—"देशकालौ सकीत्य"। अर्थात् आप जहा बैठकर यह काय कर रहे हैं वह ब्रह्माड में किस जगह पर स्थित है इसका "लोकेशन' आप बतानें (देश या दिक) और सृष्टि की कालगणना के जिस बिन्दु पर आप बोल रहे हैं उसकी तारीख बतावें (काल)। यो हमारे हर काय मे दिक काल के नाम से वल्ड मैप भी साथ रहता है, और सृष्टि का कलडर भी। यह मैप और यह कलैंडर वैसे तो रहता है पुरोहित की जुबान पर किन्तु उसका आधार शास्त्रो म बडे विस्तार, तक और विवेचन के साथ बताया गया है। यही तो कारण नही कि हस्ती मिटती नही हमारी? हम हर साल कलैंडर फाडकर नही फेंकते, मौखिक परपरा से उसे धम के नाम पर जीवित रखे हुए हैं।

हर बार उच्चारित इस कलैंडर मे—सूत्र रूप मे—सृष्टि विज्ञान की काल गणना निहित है। पुरोहित बोलता है—"सृष्टि जब शुरू हुई और जब खत्म होगी वह सब मिलकर हुआ ब्रह्मा का एक दिन। उस दिन को सौरमान से विभाजित करें तो उसके लगभग चार अरब मानवीय वष हुए। उसके 14 भाग किये गये जि हें मन्वन्तर कहा जाता है। ब्रह्मा के दिन का एक पहर बीत चुका है, दूसरा पहर चल रहा है, उसमें से भी आधा पहर बीत चुका है—इस प्रकार ब्रह्मा के डेढ प्रहर बीत जाने पर दूसरा प्रहराध जो चल रहा है, हम उसके अ दर जी रहे हैं। ब्रह्मा के इस दिन को शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा मानकर श्वेतवाराहकल्प कहा गया है। उस कल्प के भी चौदह भागों मे से छ भाग याने छ मन्वतर बीत चुके हैं। सातवा म वतर चल रहा जिसे वैवस्वत म व तर कहते हैं। प्रत्येक मन्व तर मे 71 चतुयु गी होती हैं, प्रत्येक चतुयु गी 43 लाख 20 हजार वर्षों की होती है। ऐसी 27 चतुयु गी बीत चुकी हैं, 28वी चल रही है। उसमे से भी सत्ययुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग बीत चुके हैं, अब कलियुग चल रहा है जो 4 लाख 32 हजार वष का होता है। उसके चार भागो का चार चरण कहा जाए तो इस समय पहला चरण चल रहा है जो एक लाख आठ हजार वर्षों का है। इसमे से पाच सहस्राब्दिया बीत चुकी हैं याने पचास सदिया चली गई। इक्यावनवी चल रही है जिसके 87 वष बीत चुके हैं 5090 वा वष चल रहा है। इस वष की छ ऋतुओ मे से अमुक ऋतु मे, बारह मासा मे से अमुक मास मे, उसके दो पक्षो म से, अमुक पक्ष मे, उसकी 15 तिथियो मे से अमुक तिथि म जबकि अमुक वार है, सूय अमुक राशि मे है, चन्द्रमा अमुक नक्षत्र मे, गुरु अमुक राशि मे है इतने ऋषियो म से अमुक ऋषि के गोत्र मे ज मा मैं अमुक सकल्प करता हू। यह सकल्प पुरोहित उस व्यक्ति से बुलवाता है जो कई भी धार्मिक काय करने जा रहा होता है। इस प्रकार अनादि काल को बाधकर सारे

क्लैंडर के आज के क्षण तक लाते हुए यह सङ्कल्प बोला जाता है। चतुयु गी, मन्व तरो और कल्पो का यह क्लैंडर हमारी सबसे पुरानी वषगराना प्रतीत होती है। अरबो और करोडो वर्षों वाले पैमाने का इतना बडा मापदड हमसे न झेला जाए तो उसे दैनिक कार्यों के लिए थोडा सरल बनाने के लिए यह अवधारणा कर ली गई कि जब महाभारत युद्ध समाप्त हुआ, कलियुग शुरू हो गया। उसे युधिष्ठिर सवत्सर माना जाए तो उसके 5089 वष बीत चुके हैं। यह पमाना भी बडा लगने लगा तो कुछ छोट पमाने भी अपनाये गये और बाद मे शुरू की गई वषगरानाए काम मे ली जाने लगी। इ ही मे से एक है विक्रम सवत्सर की गणना जिसके 2044 वष बीत चुके हैं, 2045 वा चल रहा है, दूसरी है शालिवाहन शक की जिसके 1909 वष बीत चुके हैं—1910 वा चल रहा है। कभी कभी इनकी वषगराना भी ध मिक कृत्यो मे उल्लिखित कर दी जाती है—पर मन्व तरो और युगो का करोडो वर्षो वाला क्लैंडर हर धार्मिक काय के समय हमारे मु ह मे रहता है।

पृथ्वी का नक्शा

इसके अतिरिक्त जो नक्शा देश या विश्व का खीचा जाता है उसमें भी अन तता का चमत्कार है। "विष्णु की इच्छा से उद्भूत अन त कोटि ब्रह्माण्ड मे से एक इस ब्रह्माण्ड मे सात लोक हैं—उनम से एक है भूर्लोक, उसमे सात द्वीप हैं जिसमे से एक है जम्बूद्वीप—उसमे अनेक वष (देश) हैं, जिसमे से एक है भारतवष, उस भारतवष के आर्यावत नामक प्रदेश मे, या ब्रह्मावत मे (जसी भी स्थिति हो), जिसके दाहिनी ओर गगा बहती है, या दक्षिण मे गोदावरी बहती है—(जैसी भी स्थिति हो) वहा बैठकर मैं यह काय करने का सकल्प करता हू।" यह हुआ वल्ड मैप जिसे उस बि दु तक आप ले आते हैं जहा आप बैठे हैं। हर बार इस अनादि काल और अन त देश का बखान अपनी जुबान पर रखने का क्या अथ है ?

शायद इसका रहस्य यही हो कि हम अपने इतिहास को, धम को, सस्कृति को, किसी एक युग, एक धम, एक व्यक्ति या महापुरुष से बाधना नही चाहते। किसके अनुयायी बनें हम ? "कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" विश्व के सारे देवता हमारे है। सब धम हमारे हैं। सब देश हमारे हैं—"यत्र विश्व भवत्येकनीडम्"। 'वसुधव कुटु बक्म्'। मनुष्यमात्र का ही नहीं, ब्रह्माण्ड का इतिहास हमारा है। हमे इस विशालता म ही सुख है। "भूमा वै सुखम्'। सनातनता का आकाक्षी हमारा मन तब तक सतोष प्राप्त नही करता जब तक हम उस अनादि काल की निर तरता से अपने आपको नही जोड लेते, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डो की विराट्ता से साक्षात्कार नहीं कर लेते। शायद यह भी हमारी सनातनता का ही एक प्रतिबिम्ब हो। शायद सृष्टि के अनादि इतिहास मे हम अपनी पहचान की तलाश की प्रक्रिया इसी रूप मे साधक पाते हो। विश्व के पर्यावरण से, सूय, च द्र आदि ग्रहो की स्थिति से सीधा

जुड़ाव महसूस करना हमारी अत्यन्त प्राचीन संस्कृति ने हमें न जाने किसी सहस्राब्दियों से सिखाया है। हमारे प्रत्येक पंचांग में ब्रह्मा के दिन की घड़ी पल आदि का हिसाब हर साल तो छपता ही है—चतुर्युगों की गणना इन पंचांगों में तो ज्योतिषियों द्वारा वर्षों से संधारित की ही जा रही है, पर जो कलेंडर धर्म के नाम पर हमारे मुंह में सदियों से ठीक उसी रूप में संधारित हो रहा है, वह उससे भी पुराना प्रतीत होता है। उस विराट कलेंडर में विशाल पैमाने से नापने पर ईसवी सदी के एक वर्ष का बीतना और दूसरे का लागू होना ऐसा ही लगता है जैसे थार के मरुस्थल से बालू का एक और कण उड़ गया हो।



2

जीवन चक्र वर्ण-आश्रम-संस्कार

वर्ण-व्यवस्था (चार वर्ण)
आश्रम-व्यवस्था (चार आश्रम)
सोलह संस्कार
अस्पृश्यता क्या होती है ?

वर्ण-व्यवस्था (चार वर्ण)

वर्ण व्यवस्था का उद्गम समाज की इस आवश्यकता पर आधारित है कि पृथक पृथक वर्गों को विभिन्न कार्यों का आवटन इस प्रकार किया जाए कि समाज की सभी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कुशलता और सुव्यवस्था से हो सके। इस प्रकार एक दृष्टि से यह अर्थशास्त्र के श्रम विभाजन (डिवीजन आफ लेबर) के सिद्धान्त की भी पूर्ति करता है (यद्यपि यह सिद्धान्त बाद मे केवल उत्पादन के आर्थिक पक्ष तक ही सीमित रह गया था और उसे केवल इस आशय का सिद्धान्त ही माना जाने लगा था कि एक गाँव म किस प्रकार जुलाहे किसान, बढई पुरोहित आदि का काय पृथक वर्गों को सौंप कर सबके विनिमय और समन्वय से अर्थव्यवस्था चलती थी) दूसरी दृष्टि से यह विभिन्न सामाजिक वर्गों को एक एक दायित्व, प्रकार्य या विशेषता का स्तर देने के समाजशास्त्रीय वर्ग विभाजन की अपेक्षाओं को भी समाहित करता है। उदाहरणार्थ अध्ययन-अध्यापन शास्त्र लेखन आदि के बौद्धिक कार्यों के निवहन के लिए ब्राह्मण वर्ग युद्ध प्रशासन शस्त्र काय आदि के लिए क्षत्रिय वर्ग कृषि व्यापार, लेनदेन क्रय विक्रय आदि कार्यों के लिए वश्य वर्ग और सवा श्रम आदि कार्यों के लिए शूद्र वर्ग ये चार प्रमुख वर्गों के बीच सभी सामाजिक कार्यों का और दायित्वों का विभाजन कर जो समाज व्यवस्था बनाई गई उसे वर्ण व्यवस्था कहा गया। चार वर्णों पर आधारित होने के कारण इसे चातुर्वर्ण्य भी कहा गया है। यह व्यवस्था हजारों वर्षों से इस देश मे चलती रही है क्योंकि इसे धर्म के आवरण मे पुनीत कर्तव्य का रूप देकर हिन्दू समाज की धार्मिक आधार शिला भी बना दिया गया था।

गीता और मनुस्मृति मे वर्णों का उल्लेख है और चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था का स्पष्ट विवरण है। इससे प्रतीत होता है कि वेदकाल के बाद से ही वर्णों का यह विभाजन सुप्रचलित हो गया था। "चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्म विभागश।" (गुणों और कर्मों में विशेषज्ञता की दृष्टि से विभाजन हो सके इसलिए ईश्वर ने चार वर्णों का विभाजन किया) कह कर गीता ने यह स्पष्ट किया है कि यह व्यवस्था प्रथमत कर्म पर आधारित रही होगी। बाद में जन्म से वर्ण व्यवस्था और वर्णों मे भी धीरे धीरे जातियों तथा उपजातियों के विभाजन की शाखा प्रशाखाएं निकलते जाने की स्थितिया आती गई जो प्राचीन संस्कृतियों की स्वाभाविक परिणति होती है। पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों और

बीसवीं सदी के प्रारम्भ मे सनातनियो और आर्य समाजियो मे इस बात पर बड़े वाद विवाद होते थे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों का विभाजन कर्मणा था या जन्मना ? अर्थात पेशे के कारण ये वर्ण बने थे या जन्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो सकता है ? आर्य समाज का मत है कि ये सब कर्म के कारण हैं और पेशो पर आधारित हैं जबकि कट्टर सनातनियो का मानना है कि जन्म से ही व्यक्ति का वर्ण निश्चित हो जाता है।

वेदो के मन्त्रो मे भी (विशेषकर पुरुष सूक्त के एक मन्त्र मे) चार वर्णों का सकेत आता है अत अधिकाश विद्वानो की यह धारणा है कि वेदकाल से ही यह वर्ण व्यवस्था थी। पुरुष सूक्त मे "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत । ऊरू तदस्य यद् वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत" द्वारा बताया गया है कि विराट पुरुष (विराट समाज व्यवस्था का प्रतीक) का मुख ही ब्राह्मण हुआ बाहु क्षत्रिय बने जांघें वैश्य हुई और पैरो से शूद्र हुए। इस प्रकार वेदकाल मे ही इस वर्णव्यवस्था के सकेत स्पष्ट मिलते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि बहुत प्राचीन वैदिक काल म केवल दो ही वर्ग थे—आर्य और दस्यु। अभिजात वर्ग को आर्य कहते थे और आदिवासी असस्कृत तथा अन्य लुटेरे आदि वर्गों को दस्यु। बाद मे दस्युओ को श्रम एव सेवा आदि का कार्य दिया गया। शेष वर्गों म से काम विभाजन द्वारा तीन वर्ण बने—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य। जो भी कारण प्रारम्भ मे रहा हो, वेदकाल से लेकर आज तक चार वर्णों और चार आश्रमों में क्रमश समाज का तथा मनुष्य के जीवन काल के क्रियाकलापो का विभाजन इस देश की सस्कृति का प्रमुख प्रतीक रहा है।

ब्राह्मण वर्ग को तपोवन चलाने शास्त्र लिखने, अध्ययन अध्यापन करने, राज्य की व्यवस्था मे शासक को (जो राजा अर्थात् क्षत्रिय होता था) सलाह देने अर्थात् मन्त्री या राजगुरु (चाणक्य की तरह) के रूप मे कार्य करने की भूमिका दी गई थी। ऋषि अर्थात् मत्रो के द्रष्टा (लेखक), शास्त्रकार, गुरु आदि की भूमिकाएं ब्राह्मणों ने निभाई हैं। धर्मशास्त्रो मे बताया गया है कि सारे ब्राह्मण उनचास ऋषियो (मूलपुरुषो) से उद्गत हैं। किसी एक ऋषि की सतानो या शिष्यो की जो परपरा चलती थी उसे 'गोत्र' कहा जाता था। एक गोत्र मे जो प्रमुख यशस्वी विद्वान् होते थे उन्हें प्रवर कहते थे। सारे ब्राह्मण इन उनचास गोत्रो मे विभाजित हैं। प्रत्येक गोत्र मे कुछ प्रवर होते हैं ताकि वश परपरा की पहिचान सही तरह से हो सके। वर्णों से बाद मे पृथक् देश के आधार पर तथा अन्य कई कारणो से जातियाँ बन गई जैसे ब्राह्मणो मे मिथिला के मैथिल गौड़ देश के गौड, उत्तर प्रान्त के औदीच्य आदि जातियाँ बनी। उनमे ही अवान्तर वर्गों की उपजातियाँ बनी और इस प्रकार एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा वर्गों उपवर्गों जातियों उपजातियो मे सारा समाज विभाजित होता गया। □

आश्रम-व्यवस्था (चार आश्रम)

जिस प्रकार मानव समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया था उसी प्रकार मानव जीवन की पूरी आयु को चार आश्रमों (चरणों) में बांटा गया। ये हैं—(1) ब्रह्मचर्य अर्थात् ज्ञानार्जन या अध्ययन (2) गार्हस्थ्य अर्थात् घर बसा कर परिवार चलाना (3) वानप्रस्थ अर्थात् परिवार छोड़ कर तपोवनादि मे पृथक् वास करना और (4) संन्यास अर्थात् पूरा समाज छोड़ कर विरक्त और वीतराग हो जाना। सामान्यतः होश सभालते ही ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारंभ हो जाता है जब उपनयन संस्कार द्वारा माता पिता बालक को गुरु के यहां अध्ययनार्थ भेजते हैं। उसे ब्रह्मचारी कहते हैं और वह अपने घर से दूर गुरुकुल में या तपोवन में रह कर अध्ययन करता है (ब्रह्म = ज्ञान चर्य = अनुशीलन)। घर में रह कर, गुरु से या शाला मे पढने वाले भी ब्रह्मचारी ही कहलाते हैं। किशोरावस्था की पूर्ति हो जाने पर इस आश्रम को छोड़कर विद्यार्थी वापस लौटता था (समावर्तन) और योग्य कन्या से विवाह कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था। ब्रह्मचर्य के लिए अविवाहित रहना एक शर्त थी। गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि समाज इसी के बल पर चलता है। इस आश्रम में संतान की उत्पत्ति कर गृहस्थ, समाज की निरंतरता बनाये रखता है। अपने पुत्र के घर सम्हालने लायक हो जाने पर—जिसकी एक पहचान यह बतलाई गई है कि उसके पुत्र हो जाने पर अर्थात् पौत्र का जन्म होने के बाद—पुत्र को घर सम्हला कर पत्नी सहित वानप्रस्थाश्रम में जाने की परंपरा भी थी। एक तरह से यह सेवानिवृत्ति (रिटायरमेंट) की तरह का जीवन का तीसरा पहर होता था जिसमे सांसारिक, स्वार्थ के स्वोन्नति के, करियर के कार्यों की बजाय परमार्थ के, चिंतन के, समाजोन्नति के कार्य करने को अधिक समय दिया जाता था। वैसे समाज में रहना परिवार से मिलना जुलना आदि वर्जित नहीं होता था किन्तु वह गृहस्थ याने गृहस्वामी नहीं रहता था। अधिकांशतः वन में बने आश्रमों के लिए प्रस्थान कर जाते थे इसीलिए इसका शब्दार्थ है वान (वन के लिए) प्रस्थान। चौथा आश्रम था संन्यास जिसमे व्यक्ति सभी सामाजिक बंधन तोड़ कर शिखा (चोटी) सूत्र (जनेऊ) आदि का त्याग कर संसार का मोह छोड़ कर अलग हो जाता था और मोक्ष के प्रयत्न में लग जाता था।

ऐसा लगता है कि चतुर्थ आश्रम सबके लिए अनिवार्य नहीं था। आश्रमों की यह व्यवस्था समाज प्रबंध के हित में थी किन्तु अनेक लोग सदा ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर निरंतर अध्ययन ही करते रह सकते थे जिन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था (वे आजन्म विवाह नहीं करते थे) कुछ ब्रह्मचर्याश्रम के बाद सीधे संन्यास ले सकते थे, या गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास ले सकते थे। कुछ की मृत्यु वानप्रस्थाश्रम में ही हो जाती थी।



सोलह संस्कार

संस्कृति शब्द कुछ समय से ही बहु प्रचलित हुआ है जिसे अंग्रेजी शब्द कल्चर के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है किन्तु संस्कार शब्द हमारे समाज मे हजारो वर्षों से चल रहा है। षोडश संस्कार प्रबुद्ध गृहस्थो मे आज भी जानी पहचानी चीज है। समय के थपेडो से आज उनकी अर्थवत्ता भी बदलने लगी है और वास्तविक उद्देश्य भी धूमिल होने लगे हैं किन्तु वस्तुत संस्कार क्या थे इसकी जिज्ञासा अब भी बनी हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि संस्कारो की कार्य विधि और बाहरी रूप के अतिरिक्त उनके मूल उद्देश्य को भी समझने का प्रयत्न किया जाये। आज प्राचीन सास्कृतिक परम्पराओ का बाहरी रूप ही सामने आ पाता है उनके वास्तविक उद्देश्य समझने वाले भी नही हैं और ऐसे ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। संस्कार भी इसी स्थिति के शिकार हैं।

भाषा की दृष्टि से संस्कृति और संस्कार सहोदर शब्द है। एक ही धातु (कृ) और उपसर्ग (सम्) से बने हैं। व्यक्तियो को सुसंस्कृत करने के उद्देश्य से जो परम्परायें समाज द्वारा डाली गई उन्हें संस्कार कहा गया। बाद मे शास्त्रकारो ने उनके अनेक भेद और प्रकार बताये और अर्थ लगाये। प्राचीन पंडित तीन तरह के संस्कार बताने लगे—दोष हटाने वाला (दोषमार्जन), कमियो की पूर्ति करने वाला (हीनांगपूर्ति) और उत्कर्ष पैदा करने वाला (अतिशयाधान)। किन्तु मूलत समाज के सास्कृतिक उत्कर्ष के लिये दूसरे शब्दो मे सभ्य नागरिक बनाने के लिये उच्च वर्ग ने जो परम्परायें डाली उन्हें संस्कार कह कर समय समय पर अनिवार्य किया गया। यही कारण है कि संस्कारो की संख्या 12 (मनु) या 16 (व्यास) से लेकर 40 (गौतम) या 48 तक मिलती है। उनके नाम और प्रकार भी अलग अलग हैं। उच्च वर्ग के पुत्रो के लिये जो सुसंस्कृत समाज होने का दावा करते थे (जैसे द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) सारे संस्कार अनिवार्य थे। जिनको असंस्कृत माना जाता था (जैसे शूद्र) उनके लिये सारे संस्कार जरूरी नही थे। कुछ धर्मशास्त्रों मे शूद्रों के लिये ग्यारह व स्त्रियों के लिये आठ संस्कार विहित किये गये, कुछ मे क्रमश दस व नौ। सुसंस्कृत समाज मे प्रवेश लेने वाला शूद्र अपने कर्म, ज्ञान और सारे संस्कारो का प्रयोग कर के सवर्ण भी हो सकता था यह बात अलग है। इससे भी यह आभास हो सकता है कि इनके उद्देश्य व्यावहारिक और वैज्ञानिक

थे। प्राज के विज्ञान से वे सारी बातें खरी उतरती हैं या नहीं यह एक प्रलग विषय है किन्तु उस समय उनकी जो वैज्ञानिक प्रवधारणा थी उसके मुताबिक समाज ने उनका सयोजन किया था। एक सक्षिप्त विवेचना स यह स्पष्ट हो जायेगा।

सख्या

प्रधिकाश धर्माचार्यों ने सोलह सस्कार माने हैं। इनमे 3 ज म से पूव किये जाने वाले सस्कार भी हैं। ये हैं—गर्भाधान, पु सवन और सीमन्तोन्नयन। फिर जातकर्म, नामकरण निष्क्रमण, अन्नप्राशन प्रक्षरारम्भ, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत समावर्तन और विवाह। कहो कही भ्रमवश मृत्यु के बाद का एक सस्कार भी बताया जाता है 'अन्त्येष्टि'। कुछ धमशास्त्रो मे किशोर प्रवस्था के सस्कारो में कर्णवेध भी मिलता है। कहीं कही वेदान्त और 'अग्न्याधान' इन दो सस्कारो के भी नाम मिलते हैं। समीक्षा से स्पष्ट होगा कि सुसस्कृत होने की बदलती प्रवधारणा और देशकाल के लिहाज से ऐसे परिवतन होते रहे। जो धर्माचाय शरीर के सस्कार के साथ-साथ धार्मिक क्रियाओ और यज्ञ आदि कर्मकाण्डो पर तत्कालीन मान्यताओ के कारण जोर देने लगे उन्होंने सब तरह के यज्ञो को भी सस्कारो में जोड दिया। वैदिक कर्मकाण्ड में 21 प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं—सात पाकयज्ञ अर्थात् गृहस्थ के द्वारा देवताओ और पितरो को श्रद्धा अपित करते हेतु पकाये अन्न से किये जाने वाले श्रावणी श्राद्ध प्रादि यज्ञ, सात हविर्यज्ञ प्रर्थात् उत्सवो और पर्वों के प्रवसरो पर गृहस्थो द्वारा किय जाने वाले दर्श पौर्णमास प्रादि गृह्ययज्ञ तथा सात सोमयाग अर्थात् समृद्ध गृहस्थो द्वारा सोमपान जसे समारोह के साथ किये जाने वाले अग्निष्टोम, वाजपेय प्रादि यज्ञ। इन्हे मिला कर तथा चारो वेदो को पढ़ना आवश्यक बता कर कुछ प्राचीन धर्माचार्यों ने सूत्रकाल मे सस्कारो की सख्या चालीस तक पहुचा दी। आध्यात्मिक और बौद्धिक परिष्कार जसे किसी से ईर्ष्या न करने का अभ्यास पवित्र रहने की प्रादत प्रादि 8 गुणो को मिला कर अडतालीस तक भी यह सख्या किसी समय पहुच गई कि तु उसका प्रतिवाद भी हुआ और यह कहा गया कि जब व जपेय आदि यज्ञ जो केवल सम्राट के करने के होते हैं आप 40 सस्कारो में शामिल करने लगे तो फिर ये वैश्य और ब्राह्मण आदि सबके करने योग्य तथा अनिवाय कसे रहे ? इन सबसे लगता है कि इतनी अधिक सख्या चल नही पाई। अन्ततोगत्वा सोलह सस्कार जरूरी माने गये जो सदियो तक चले। इनमे से प्रारम्भिक आठ सस्कारो के साथ, जो किसी भी मानव शिशु को समाज मे रहने योग्य बनाने के आवश्यक सस्कार हैं—एक 'कर्णवेध" को और जोड कर कन्याओ के लिये भी अनिवाय किया गया। कर्णाभूषण पहनने के लिये तथा कुछ शरीर-शास्त्रीय दृष्टियो से, कान छिदवाना कन्याओ के लिये जरूरी था। शायद उसे पुत्रो के लिये भी जोड कर कुछ आचार्यों ने उसे भी सोलह सस्कारो मे शामिल कर लिया। इस

प्रकार देशकालजनित थोडे से अन्तर से उपयुक्त सोलह संस्कार अब तक किसी न किसी रूप मे स्मरण कर लिये जाते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि संस्कारो का उद्देश्य व्यक्ति को समाज मे सुसंस्कृत रूप से रहने की कला सिखलाना था और मृत्यु के बाद किसी प्रकार के संस्कार की कोई अवश्यक्ता नही रह जाती अत किसी भी शास्त्रकार ने 'अन्त्येष्टि' को संस्कारो मे नही गिनाया। किन्तु शव का निवतन (डिस्पोजल, निपटारा, दाह आदि) भी शरीर का संस्कार ही है—इस दृष्टि से कही किसी ने इसे "दाह संस्कार कह दिया होगा। तब से "अतिम संस्कार" मुहावरा ऐसा चला कि कुछ लोग भ्रमवश इसे सोलहवा संस्कार मानने लगे।

संस्कारो के सक्षिप्त स्वरूप विवेचन से उनका उद्देश्य स्पष्ट हो सकेगा। ऐसा विवेचन क्रमिक रूप से प्रस्तुत किया जायेगा।

1 गर्भाधान

इस संस्कार का उद्देश्य नस्ल को उत्कृष्ट रखना था, यह इसके विधान से स्पष्ट होता है। आजकल भी जनेटिक्स के विज्ञान और जीस' को उत्कृष्ट रखने के बहुत से सिद्धात निकल रहे हैं। उस समय इसकी जो अवधारणा थी उसके अनुसार गर्भधारण के समय माता और पिता की जो मानसिकता रहती थी उसका असर सतति पर माना जाता था इसलिये इस संस्कार द्वारा प्रयत्न किया गया कि दोनो को उदात्त और महान आदर्श मानस मे रखने चाहिये और ऊचे सकल्पो के साथ अगली पीढी का बीजवपन करना चाहिये। इसके जो मन्त्र दिये गये हैं उनके अनुसार पति, पत्नी को उदात्त भावनाओ के लिये प्रेरित करता है और प्रजापालक देवताओ का स्मरण करता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा के किस नक्षत्र पर स्थित रहने से सतति पर क्या प्रभाव होगा इसका भी विवरण है। उदाहरणार्थ मघा और मूल नक्षत्र वर्जित बताये गये हैं। इसके साथ गृहस्थो की जानकारी के लिये यह विवरण भी है कि रजोदर्शन के कितने दिन बाद तक गर्भ धारण हो सकता है। यह बात अलग है कि आज के शरीर शास्त्रीय शोधो द्वारा इस सम्बन्ध की कुछ मान्यताओ को गलत सिद्ध कर दिया गया है।

शास्त्रो मे तीन बातें बताई गई हैं। एक तो यह कि रजोदर्शन से 16 दिन बाद तक गर्भ धारण की सभावना रहेगी, आगे नही। दूसरे यह कि समरात्रियो (दो या दो के गुणक) मे गर्भ धारण से पुत्र जन्म की सम्भावना अधिक होगी विषम रात्रियो (जिनमे दो का भाग न जाये) मे पुत्री के जन्म की। तीसरे यह कि पुरुषाणु अधिक होने पर पुत्र जन्म और स्त्रीअणु अधिक होने पर पुत्री जन्म समावित है। आज के विज्ञान की मान्यता है कि रजोदर्शन से लेकर 10 दिन तक गर्भ धारण सम्भव नहीं उसके बाद 10 दिन तक अधिक सम्भव है और उसके बाद के 10 दिन तक नही क्योकि डिम्ब बीच के 10 दिनो मे ही

परिपक्व रहते हैं और उन्हीं के सयोग से गर्भ धारण सम्भव है। यह सिद्धान्त नास व आजिनो के सिद्धान्त के रूप मे आजकल प्रचलित है। इस प्रकार प्रथम 16 रात्रियो मे गर्भधारण का तथा सम और विषम रात्रियो मे पुत्र और पुत्री जन्म का सिद्धान्त खरे नही उतरते किन्तु आधुनिक विज्ञान भी पुत्री या पुत्र जन्म का कारण एक अणु को मानता है जिसे क्रोमोसोम कहते हैं। एक्स क्रामोसोम से पुत्र और वाई क्रोमोसोम से पुत्री की सम्भावना मानी जाती है। अत इस सम्बन्ध की प्राचीन अवधारणा अवश्य आज भी खरी उतरती है। यह अन्तर अवश्य है कि आधुनिक विज्ञान शुक्राणुओ म क्रोमोजोम्स निहित मानता है, आयुर्वेद माता पिता दोनो मे। जो भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि उस समय इस सम्बन्ध का जो भी सर्वोच्च ज्ञान था उसके आधार पर उत्कृष्टतम परिणाम प्राप्त करने के उद्देश्य से 'जीन्स" से सम्बन्धित इस सस्कार के साथ व्यक्ति की जीवन यात्रा का शिला यास किया जाता था। बाद मे, जसा कि सभी परम्पराओ के साथ होता है ऐसे सस्कार यथा समय न किये जाकर, यज्ञोपवीत या विवाह के समय सभी सस्कारो के मत्र बोल कर उनकी रस्म निभाई जाने की परम्परा चल निकली। समय के प्रवाह के साथ धीरे-धीरे इनका रूप व्यावहारिक न होकर पूजन का सा हो गया जिससे रोली, चावल चढाने और मत्र बोलने के बाह्य रूप को ही लोग सस्कार समझने लगे।

2 पुसवन

दूसरा सस्कार उस समय किया जाता था जब शास्त्रो के अनुसार गर्भ मे पुत्र या पुत्री के चिन्ह प्रकट होना सम्भावित माना जाता था। उनकी मान्यता थी कि दो तीन मास तक गर्भ पिण्ड के रूप मे रहता है, उसके बाद पुत्र या पुत्री के चिन्ह शुरू होते हैं। उस समय पुत्र ही उत्पन्न हो इस उद्देश्य से यह सस्कार किया जाता था। स्पष्ट है कि पुरुष प्रधान समाज होने के कारण तथा पुत्र को अधिक वाछनीय मानने के कारण यह सस्कार जन्मा होगा। इसका शब्दार्थ है पु (पुरुष सतति) + सवन (पदा करना)। इसम भी ऐसे सारे उपाय किये जाते थे जो उनके अनुसार पुत्र की उत्पत्ति मे सहायक हो। उदाहरणार्थ गर्भिणी को बड या गूलर आदि के फूलो का (जिन्हे पुरुषत्व का प्रतीक माना जाता था) रस पिलाना या उन्हे निचाड कर नासिका माग द्वारा ऐसे तत्व पहुचाने का प्रयत्न तथा इस प्रकार की कामनायें कि पुत्र ही जन्म ले। यह उपाय आज कितने कारगर हो सकते है इस बहस का सवाल नही है। इस पर भी अलग अलग शोध हुए हैं कि पुत्र और पुत्री जन्म के कारण क्या हैं और क्या मानव का इसमे बस चल सकता है? औसत के सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा गया है कि कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिनके अपनाने वाला मे पुत्र जन्म की ज्यादा सभावनाएँ रहती हैं (जसे श्रमिक, इजीनियर, प्रशासक) और कुछ मादा पेशे जिनमे कन्या जन्म की सम्भावना अधिक है (जैसे कवि

कलाकार, बुद्धिजीवी)। अब तो पुत्र और पुत्री को बराबर मानने का अभियान भी चला है। हो सकता है किस मास में समस के चिन्ह प्रकट होते हैं इसकी भी धारणा बदल रही हो किन्तु इस संस्कार का उस समय जो उद्देश्य था वह तत्कालीन वज्ञानिक धारणाओं पर आधारित था। बाद में यह संस्कार भी पूजा के रूप में सीमन्तोन्नयन या यज्ञोपवीत आदि के साथ केवल परम्परा निभाने के लिये किया जाने लगा।

3 सीमन्तोन्नयन

तीसरा संस्कार उस समय किया जाता था, जब यह माना जाता था कि गर्भस्थ शिशु में मानस या अन्तःकरण का उद्भव हो रहा है। अधिकांशतः आठवें माह यह संस्कार किया जाता था। इसका आधार यह था कि इस अवसर पर गर्भिणी का जसा स्वास्थ्य और मानसिकता होगी, शिशु का शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक परिवेश उसी प्रकार का होगा। इसलिये सारे स्वजन मिल कर उसकी इच्छाओं के अनुरूप मनोरंजन करें तथा हृष का वातावरण बनायें यह विधान किया गया। विशेषकर संगीत वाद्य और अन्य मनोरंजक कार्यक्रमों का विशेष उल्लेख शास्त्रों में किया गया है। गर्भिणी की इच्छा के अनुरूप भोज्य पदार्थ प्रस्तुत किये जाने का विधान तो प्राय 8 9 महीनों के पूरे समय के लिये ही था किन्तु इस संस्कार के समय विशेष विधान था। आज भी कुछ वर्गों में भावी माता को साध खिलाये जाने अर्थात् यथारुचि भोजन देने की रीतियां हैं। प्रमुखतः इस संस्कार का उद्देश्य था गर्भवती की देखभाल और जन्म से पूर्व ही शिशु के मानस या बुद्धि पर उत्कृष्ट प्रभाव डालने का प्रयास। आज तक अठमासा पूजने की रीति अनेक समाजों में प्रचलित है जो इसी संस्कार का रूप है। गृह्यसूत्रों में इस अवसर पर गर्भ दोष निवारक और पौष्टिक पदार्थ गर्भवती को खिलाये जाने, प्रदूषण निवारक परिधान पहनाये जाने और विश्राम देने के विधान मिलते हैं। 'सीमन्तोन्नयन' का शब्दार्थ है मांग भरना जो सम्भवतः इस संस्कार के लिये इस कारण प्रयुक्त हुआ कि सौभाग्य सिंदूर या सुहाग की सार्थकता नारी के मातृत्व में जब से मानी जाने लगी तब से संतति के जन्म में ही पत्नी की पूर्णता होती थी। अतः गर्भ के विकसित हो जाने पर पति समारोहपूर्वक उसकी मांग भर कर खुशियां मनाता था।

यह ध्यान देने की बात है कि प्रथम संस्कार "गर्भाधान" से लेकर विवाह तक सारे संस्कार पिता द्वारा किये जाते हैं जिसका आशय है पिता जो व्यक्ति को संसार में लाने का उत्तरदायी है आरम्भ से लेकर जीवन की कला में दक्ष होने हेतु संस्कृत और प्रशिक्षित कर उसे "गृही" या गृहस्थ बना कर एक पूर्ण नागरिक के दायित्व उसे सौंप देता है। इसी कारण शास्त्रों में पिता को "संस्कर्ता" और पुत्र (या पुत्री जसी भी स्थिति हो) को 'संस्कार्य' कहा गया है। पिता के अभाव

मे कोई भी पुरुष अभिभावक जिनका विधान वरिष्ठताक्रम मे भ्राता पितृव्य आदि के क्रम मे "नेक्स्ट आफ किन" वाले सिद्धान्त के अनुरूप बताया गया है "संस्कार" को सम्पन्न कर सकता है। चूकि जन्म से पूर्व के संस्कार भ्रूणीय अवस्था से ही शिशु को संस्कृत करने हेतु किये जाते थे और तब तक कन्या होगी या पुत्र इसका भेद नही किया जा सकता था अत ये तीनो संस्कार प्रत्येक शिशु जन्म से पूर्व करने होते थे। बाद मे कुछ आचार्यों ने भ्रमवश यह मान लिया कि "सीमन्तो नयन" संस्कार भ्रूण का न होकर पत्नी का होता है अत प्रथम शिशु जन्म के समय ही यह संस्कार करना पर्याप्त माना जाने लगा। धीरे धीरे इसके साथ लौकिक रीति रिवाज ज्यादा जुड गये और मंत्र तथा शुभाकाक्षाम्रो के साथ पति पत्नी द्वारा मिल कर अग्नि मे आहुति देने आदि की वैदिक विधिया कम होती गई।

4 जातकर्म

तीसरा संस्कार जातकर्म है जो जन्म के बाद होने वाला पहला संस्कार कहा जा सकता है। अर्वाचीन कर्मकाण्ड की पद्धतिया मे तो इसका स्वरूप सतान के जन्म लेते ही पिता द्वारा किये जाने वाले पूजन का सा रह गया है किन्तु उसमे भी जो विधि बताई गई है उसे देखते हुए इस संस्कार के दो उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं। एक तो यह कि जन्म काल के समय माता और शिशु की सुरक्षा और स्वास्थ्य के लिये जो जो कार्य शरीर शास्त्र की दृष्टि से आवश्यक हैं वे किये जायें। इसीलिये नालच्छेदन की विधि भी इस संस्कार मे आती है और यह भी उल्लेख मिलता है कि बच्चे के कान, नाक आदि रन्ध्रो को मंत्र द्वारा स्वच्छ किया जाये। आज भी शिशु जन्म के बाद आयुर्विज्ञान की दृष्टि से उसकी पीठ थपथपाना, कान आदि मे फूक देकर शरीर के छिद्रो को चालू करना तथा स्वच्छ शस्त्र से नाला काटना आवश्यक माना जाता है। प्रारम्भ मे शिशु जन्म की इसी परिष्कृत प्रक्रिया के लिये यह संस्कार शुरू हुआ होगा। इस विधि मे शहद आदि कुछ द्रव्यो को मंत्रो के साथ शिशु को चटाने का उल्लेख भी मिलता है। यह भी स्वास्थ्य की दृष्टि से शिशु को दिये जाने वाले प्रथम पेय का ही स्वरूप है। अब तक माताएँ बच्चो को "जन्मघुटी" देती हैं। यही इस संस्कार के विधान मे भी है।

दूसरा उद्देश्य बौद्धिक है। यह माना जाता है कि जिस प्रकार फोटोग्राफर कमरे की फिल्म को ज्योही 'एक्सपोज' करता है त्योही उस पर बाहरी परिवेश का चित्र अंकित हो जाता है उसी प्रकार मानव शिशु के जन्म लेते ही उसकी चेतना पर सर्वप्रथम जो जो प्रभाव पडते हैं वे ही उसकी बुद्धि, स्वभाव और व्यवहार के घटक होते हैं। जन्म पत्र या जन्मकुडली का सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है कि शिशु जन्म के समय ग्रहो की जो स्थिति होती है वह उसके पूरे जन्म का व्यवहार और भविष्य निर्धारित कर देती है। इसी दृष्टिकोण से शिशु का जन्म होते ही उसका स्पर्श कर उसे विभिन्न शुभकामनाओ के साथ अभिमन्त्रित करने का विधान

मिलता है। स्पष्ट है कि आजकल अस्पताल में प्रसव होने की स्थिति में पिता की उपस्थिति सभव नही होती, अत वहा डाक्टर तथा घरो मे प्रसव के समय भी दाई या नर्स ही जातकर्म संस्कार करती हैं। मत्रो के द्वारा सस्कार वहा सम्भव नही होता। सम्भव है प्राचीन काल म जहा माता पिता ही प्रसव के समय उपस्थित रहते हो, वहा इसका प्रारम्भ हुआ हो। जो भी हो, अब यह प्रथा है कि प्रसव के अवसर पर न होकर बाद मे किसी उचित अवसर पर शिशु को गोद मे लेकर पूजन और होम का यह सस्कार इस भावना से कर लिया जाता है मानो यह जन्म के समय ही किया जा रहा हो। आज इस सस्कार मे 'मेधाजनन" नामक वैदिक सस्कार के मत्र प्रमुखत पढ़ जाते हैं। यह अवश्य है कि आज की स्थितियो मे कुछ विधान शायद उचित न लगें। उदाहरणार्थ जातकर्म सस्कार म नाला काटने के बाद पहले मधु घृत पिलाने का विधान है उसके बाद माता का स्तन पान शिशु को कराने के मत्र भी है। कुछ परिवारो म जन्म के तुरत बाद स्तन पान न करा कर एक दो दिन बाद कराने की प्रथा है। शायद यह इस भ्रम के कारण हो कि प्रसव के तुरन्त बाद का दूध शिशु के लिए हानिकारक होता है। अब तो चिकित्सा विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है कि प्रसव के तुरत बाद दूध पिलाना हानिकारक नही बल्कि बहुत लाभदायक है।

5 नामकरण

जन्म के बाद का दूसरा सस्कार नामकरण है। इसकी अर्थवत्ता स्पष्ट है। जीवन भर जो नाम व्यक्ति के साथ चलता है उसका असर उसके जीवन पर कितना गहरा होता है यह सब जानते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भी जाहिर है कि किसी व्यक्ति का नाम यदि कजोडमल, छीतरमल या घसीटाराम है तो वह चाहे जितना भी विद्वान् सम्मानित या वरिष्ठ हो, एक बार तो उसके प्रति धारणा दूसरी तरह की ही बन जाती है। इसीलिये आजकल भी अत्यत सुदर और सुरुचिपूर्ण नाम ढूढ ढूढ कर रखने की लहर फिर आई हैं। इसी शब्द चुनाव के दृष्टिकोण से नामकरण सस्कार किया जाता था जो प्राय जन्म के 11 वें दिन या उसके बाद किसी भी सुविधाजनक शुभ तिथि को बन्धुजनो के बीच बठ कर किया जाता था।

शास्त्रो मे इसके जो विधान बताये गये हैं उनके भी दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि शिशु के लिये विभिन्न प्रकार के नाम विद्वानो से पूछ कर रखे जायें ताकि जीवन भर उसके बारे मे अच्छी धारणा बनी रहे। विभिन्न प्रकार के नामो म एक तो जन्म नाम होता था, दूसरा सामाजिक नाम और तीसरा घर मे पुकारने का नाम। जन्म नाम अलग रखने का दूसरा उद्देश्य यह था कि प्रारम्भ से ही प्राचीन भारत मे जीवन के प्रत्येक काम मे ज्योतिष को आवश्यक आधार बनाया जाता था। यह उनकी वज्ञानिक दृष्टि का ही प्रतीक था। कौन व्यक्ति कब पदा

हुआ है यह देख कर उसकी जन्मकुंडली बनाई जाती थी और ग्रहों की स्थिति को देख कर उसके स्वभाव और भविष्य के बारे में अनुमान भी किया जाता था। जिस नक्षत्र में व्यक्ति पैदा होता था उसके हिसाब से उसकी राशि समझी जा सकती थी और उसी के आधार पर उसके विंशोत्तरी या अष्टोत्तरी दशा निकाली जा सकती थी। इसका तात्पर्य था पूरे जीवन के 120 या 108 वर्षों में व्यक्ति किन किन ग्रहों की दशाओं से (प्रभावों से) गुजरेगा इसका विश्लेषण करना। कोई भी विद्वान् या ज्योतिषी आसानी से यह जान सके कि व्यक्ति किस नक्षत्र के किस चरण में (कालांश या चतुर्थांश में) पैदा हुआ है इस लिहाज से यह वैज्ञानिक तरीका निकाला गया कि प्रत्येक चरण के लिये एक एक अक्षर निर्धारित कर दिया गया। उदाहरणार्थ रेवती नक्षत्र के चार कालांशों में जन्मे लोगों के नाम के लिये दे, दो, च, चि ये चार अक्षर निर्धारित हुए। प्रथम कालांश में जन्मे व्यक्ति का नाम देवदत्त, दूसरे में जन्मे व्यक्ति का नाम दोहक, तीसरे में जन्मे व्यक्ति का नाम चन्द्र और चौथे में जन्मे व्यक्ति का नाम चिरजीव होगा। इससे किसी को भी यह हमेशा याद रहेगा कि उसकी राशि क्या है और वह किस ग्रह की दशा में जन्मा है। इस वैज्ञानिक 'कांटे' से नामकरण किया जाता था और उसे नाक्षत्रिक नाम कहा जाता था।

दूसरा नाम समाज के लिये रखा जाता था और यज्ञ या अन्य शुभ कार्यों में व्यक्ति उसी नाम से अपना परिचय देता था। यदि वह नाम अधिक बड़ा या कठिन अक्षरों वाला हो तो घर में बुलाने वाला तीसरा नाम भी रख लिया जाता था जैसा आजकल भी होता है। इस प्रकार एक वैज्ञानिक, एक सामाजिक और एक व्यावहारिक, यो तीन नाम कम से कम रखे जाने के विधान मिलते हैं। कहीं कहीं उपास्य देवता पर चौथा नाम रखने का उल्लेख भी है। चूंकि नामकरण व्यक्ति के अस्तित्व का पहला प्रमाण होता है अतः इस अवसर पर उत्सव मनाया जाता था, पूजन, यज्ञ और ब्राह्मण भोजन आदि कराया जाता था (क्योंकि ग्यारहवें दिन आशौच निवृत्त हो जाता था)। ऐसी रीतियां प्रायः प्रत्येक संस्कार के साथ जुड़ती गईं किन्तु लगता है इन संस्कारों का प्रारंभ व्यावहारिक उद्देश्यों से ही किया गया होगा।

प्राचीन अभिलेखों से यह भी प्रतीत होता है कि ऊपर बताये गये तीन तरह के नामों के अतिरिक्त एक अन्य नाम भी हुआ करता था जो कुल नाम कहा जा सकता है। आजकल सरनेम से पुकारने की जो परम्परा है और जिसके अनुसार व्यक्ति गोपाल रामसिंह या नेमीचन्द्र न बुलाया जाकर गुप्ता राठौर या जैन नामों से पुकारा जाता है वह तो विदेशी प्रभाव प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ प्रथम नाम (फर्स्ट नेम) से पुकारना धृष्टता माना जाता है और सरनेम अर्थात् कुलनाम से पुकारना शिष्टता। इसी से यह प्रथा चली होगी। किन्तु पहले भी लिखने में या

हस्ताक्षर करने में कुलनाम और वर्णनाम दोनों लिखे जाते थे, पुकारने में केवल प्रथम नाम ही आता था। उदाहरणार्थ ब्राह्मण को शर्मा, क्षत्रिय को वर्मा वैश्य को गुप्त और शूद्र को दास ये वर्ण नाम दिये गये थे जो प्राय आजकल भी चल रहे हैं। वर्ण की पहचान आसानी से हो जाये इसलिये ये नाम के बाद में लिखे जाते थे। जब वर्णों के भेद, उपभेद होते गये और जातियां व उपजातियां बनती गईं तो विभिन्न जातियों के नाम लिखे जाने लगे जैसे अग्रवाल, महेश्वरी आदि। देश के नाम से भी जातियां बनी तथा अन्य अनेक कारणों से भी। प्राचीन काल में कभी कभी पिता या कुल का नाम भी पहचान के लिये लिख दिया जाता था। चतुर्वेदी, वाजपेयी आदि कुल के नाम हैं। पाडु के पुत्र पाडव हुए। यह सब नामकरण संस्कार के समय स्पष्ट कर दिया जाता था। अलग से कुल के नामकरण की आवश्यकता तो इसलिये नहीं होती थी कि वर्ण और कुल आदि के नाम पहले से ही निर्धारित होते थे।

6 निष्क्रमण

जन्म के बाद तीसरा संस्कार निष्क्रमण (घर से बाहर निकलना) का बताया गया है। आजकल की पद्धतियों में तो इसका स्वरूप है शिशु को पहली बार घर से बाहर ले जाने के समय किये जाने वाले मगल कार्य, किन्तु इसकी विधि से प्रतीत होता है कि मूलत यह संस्कार शिशु को चलना सिखाने का संस्कार रहा होगा। इसके मन्त्रों में भूमि से यह प्रार्थना की जाती है कि इस बालक को अब तुम्हें सम्भालना है और जीवन भर विश्व के अन्य प्राणियों की तरह इसकी रक्षा करनी है। कहीं कहीं इसका नाम भूम्युपवेशन संस्कार भी मिलता है। जीवन की बहुत बड़ी कला जिसका महत्व हम अधिक नहीं समझते, है दो पैरों पर चलने की कला। यही संस्कृति मानव को अन्य पशुओं से अलग करती है। यह एक ऐसी कला है जिसे माता पिता शिशु को सिखलाते हैं। इसके साथ ही उसे यह भी बताया जाता है कि घर से बाहर निकलने में क्या-क्या सतर्कता बरतनी है।

इस संस्कार की विधि में आजकल तो बच्चे का धरती पर बिठाना या पैर रखवाना शाम को चन्द्रमा दिखाना आरती उतारना और सूर्य का दर्शन करा कर घर से बाहर ले जाना तथा किसी देव मन्दिर में प्रणाम करवाना ही प्रमुख रह गया है। उस समय ही बन्धुजनों के साथ देवताओं का पूजन और गाना बजाना आदि उत्सव जैसे कार्य किये जाते हैं। प्रारम्भ में इसका स्वरूप शिशु को चलना सिखाने के साथ ही घर के बाहर किस प्रकार निकलना और किस सीमा से आगे नहीं जाना यह सब कुछ सिखाने का रहा होगा। बाद में इसका समय सामान्यत बच्चे के चार माह का होने पर बतलाया जाने लगा। शास्त्रों में यह उल्लेख भी है कि यदि बच्चे को लेकर यात्रा पर जाना है तो यह संस्कार पहले भी किया जा सकता है।

लगता है प्राचीन काल मे यह सस्कार इससे अगले अन्नप्राशन सस्कार के बाद शिशु के लगभग एक साल का होने पर किया जाता होगा।

7 अन्नप्राशन

यह सस्कार प्रमुखत दो बातो से सम्बन्धित है। एक तो शिशु को अन्न खिलाना प्रारम्भ करने का और दूसरा उसे बोलना सिखाने का। इन दोनो के मत्र आज भी शास्त्रो मे मिलते हैं। पिता पूजन आदि करके शिशु को अन्न से बना कोई पदार्थ (खीर आदि) चटाता है। होम किया जाता है और वाक (वाणी) देवी को आहुतिया दी जाती हैं जिसका उद्देश्य है बालक मे बोलने की शक्ति का सचार करना। यह विधान भी है कि मीठा खट्टा नमकीन आदि सभी रसो का नमूना बालक को खिलाया जाये और उसका परिचय कराया जाय। स्पष्ट है कि खाने और बोलने की कला का महत्व समझ कर उनकी शिक्षा देने का यह सस्कार बहुत महत्वपूर्ण समझा गया होगा। आजकल भी माता-पिता ये दोनो कलायें बच्चे को सिखाते है, इस सस्कार का स्वरूप इस शिक्षा का प्रारम्भ करना ही था। इसका समय शिशु के छ माह का हो जाने के बाद कभी भी बताया गया है। इससे पूर्व बालक को केवल मा का दूध या गाय आदि का दूध ही पिलाया जाता है अन्न की चीज नही खिलाई जाती। ऐसा भी लगता है यदि बच्चे को खाने की कला कुछ विलम्ब से सिखाई जाये या बोलना बाद मे सिखाया जाये तो एक साल का होने पर भी यह सस्कार किया जा सकता है। जसा पहले अन्य सस्कारो के सम्बन्ध मे बताया गया है आधुनिक काल मे यह सस्कार अपने विहित समय मे न हो कर यज्ञोपवीत या विवाह (जैसी भी स्थिति हो) के समय प्रतीक रूप मे एक साथ कर लिया जाता है।

8 विद्यारम्भ

यह सस्कार बच्चे को लिखना सिखाने का है। कुछ शास्त्रो मे इसे **'अक्षरारम्भ'** भी कहा गया है। कुछ मे इसे अलग से सस्कार के रूप मे न गिना कर वेदारम्भ सस्कार मे ही शामिल कर दिया गया है। वस्तुत बोलना सीखने के कुछ अरसे बाद बालक लिखना सीखता है और खाना व बोलना चाहे वह स्वय सीख जाये किन्तु लिखना तब तक नही सीख पाता जब तक उसे कोई न सिखाये। अत इसे एक प्रमुख सस्कार मानना स्वाभाविक है। यह शिशु के पाच साल का होने के आसपास किसी शुभ दिन किया जाता है। शास्त्रो मे पिता द्वारा यह सस्कार करने का उल्लेख है। वसे भी विद्यालय मे प्रवेश लेने से पूर्व सब जगह माता पिता ही बच्चे को अक्षर लिखना सिखाते हैं। यही कारण है कि विद्यारम्भ घर में पिता द्वारा किया जाने वाला सस्कार बताया गया है और उपनयन (जिसका परिचय आगे दिया जायेगा) गुरु द्वारा किया जाने वाला सस्कार, जो वस्तुत विद्यालय मे प्रवेश लेने का सस्कार है।

आजकल भी दक्षिण भारत और बंगाल आदि में यह संस्कार सरस्वती पूजन के साथ साथ विशेष समारोह के साथ किया जाता है, और उत्तर भारत में भी यह अब तक चल रहा है। इसमें पिता सरस्वती का पूजन करके बालक को अक्षर लिखना सिखाता है। कहीं कहीं यह प्रथा भी चली है कि किसी बड़े विद्वान को बुला कर उसके हाथ से बच्चे को लिखना सिखलाया जाये। बंगाल और दक्षिण भारत में बसंत पंचमी का पर्व विद्यारम्भ के लिये सर्वोत्तम माना जाता है। कुछ प्रांतों में विजयादशमी के दिन यह संस्कार किया जाता है। वैसे किसी भी शुभ दिन इसके करने का विधान मिलता है। यह संस्कार प्रत्येक शिक्षित वर्ग के लिये कितना अनिवार्य है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इस अवसर पर एक अन्य रिवाज का भी उल्लेख है। *बालक के सामने एक शस्त्र, एक पुस्तक एक खिलौना* एक भोज्य पदार्थ तथा इसी प्रकार अन्य विविध पदार्थ रख दिये जाते हैं और उनमें से कोई एक उठाने के लिये उसे कहा जाता है। वह जो पदार्थ उठाता है उससे उसके रुझान का अनुमान लगाया जाता है। उदाहरणार्थ यदि उसने शस्त्र उठाया तो वह योद्धा बनेगा, पुस्तक उठाये तो बुद्धिजीवी आदि। यह केवल प्रतीकात्मक प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि इसका वास्तविक उद्देश्य बालक की बुद्धि के रुझान की जांच करना था जिसे अंग्रेजी में एप्टीटयुड टस्ट कहा जाता है। ऐसा लगता है कि लिखना सिखाने से ले कर अर्थात् विद्यारम्भ संस्कार से ले कर उपनयन संस्कार तक माता पिता का यह प्रयत्न होता था कि बालक का एप्टीटयूड किस ओर है इसकी जांच की जाये। इन वर्षों में उसकी रुचि जिस ओर प्रमाणित होती है उसकी जीविका के लिये उसे तैयार करना उपयुक्त माना जाता था। इसका प्रतीक मात्र अब शेष रह गया है और शास्त्रों में भी उसका केवल एक रिवाज के रूप में ही उल्लेख मिलता है।

9 चौल

यह संस्कार सिर के बालों की सार सभाल तथा प्रथम बार केशों का संस्कार कर मस्तिष्क की सुरक्षा के प्रयत्नों से सम्बन्धित है। आजकल इसके दो रूप हो गये हैं। प्रथम बार जन्मजात (जन्म के साथ पैदा हुए) केशों के मुंडन का संस्कार जो बालक की एक दो या तीन वर्ष की आयु में किया जाता है—जिसमें चोटी रखना अनिवार्य नहीं माना जाता कभी कभी सारे केश मुंडवा दिये जाते हैं कभी कभी चोटी भी रख ली जाती है और जिसे मुंडन कहा जा है—वह इसका एक रूप है जिसका छोटा मोटा उत्सव आजकल प्राय सभी वर्गों में मनाया जाता है। दूसरा रूप है चोटी रखने का संस्कार जिसे चूडाकरण या चूडाकर्म भी कहा जाता है। इसका उत्सव अलग से मनाना आजकल प्राय समाप्त हो गया है। शास्त्रों में प्रमुखतः इसी का उल्लेख मिलता है किन्तु इसके विधान और उद्देश्य से यह स्पष्ट

होता है कि मूलत सिर और सिर के बालो का सम्पूर्ण रख रखाव सिखाने का यह संस्कार था। हमारा तो यह अनुमान है कि चौल या मुंडन सिर और बालो की सार संभाल की शिक्षा रही होगी और एक अन्य संस्कार जिसे केशान्त संस्कार कहा जाता है और जो युवावस्था के प्रारम्भ मे गुरुकुल से आने और गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के बीच किया जाता था दाढी और मूछ संवारने (या शेव करने) की शिक्षा रही होगी। तभी मुंडन या चौल कन्याओ के लिये भी विहित है जबकि केशान्त केवल पुरुषो के लिये बताया गया है।

आजकल मुंडन तो प्राय प्रत्येक वर्ग म प्रत्येक शिशु का किया जाता है पर उसे संस्कार के रूप मे मन्त्रो के साथ नही किया जाता जबकि संस्कार के रूप मे चोटी रखने की रस्म कुछ वर्षों बाद या यज्ञोपवीत के साथ निभा दी जाती है। शास्त्रो मे भी चूडाकर्म को यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर उससे पूर्व कर देने की अनुमति मिलती है। आजकल की पद्धतियो मे इस संस्कार मे प्रमुखत चोटी रखने के मंत्र और उस समय पिता माता द्वारा किये जाने वाले होम का विधान मिलता है। इसमे पहले गर्म पानी से शम्पू करने, फिर किसी उपयुक्त परिवारजन द्वारा या नाई द्वारा बाल कटवाने का तरीका बतलाया गया है। सारे बाल कटवा दिये जाते हैं किन्तु कम से कम एक चोटी रखी जाती है अर्थात् उस स्थान के बाल यथावत् छोड दिये जाते हैं। कुछ शास्त्रो मे तीन या पांच चोटियां रखने का उल्लेख भी मिलता है।

इस संस्कार के समय संस्कार्य की उपयुक्त आयु तथा संस्कार के विधान की इन विविधताओ के होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थो मे इसके मूल उद्देश्य के बारे मे दो ही बातें कही गई हैं जिनसे यह आभास होता है कि मूलत इसका प्रारम्भ किन्ही शारीरिक और बौद्धिक उत्कर्षों के लक्ष्य से हुआ होगा। इसकी सार्थकता बताते हुये शास्त्रकारो न एक तर्क तो यह दिया है कि मुंडन की आवश्यकता इसलिये है कि सिर की अस्थियो के नीचे मस्तिष्क की जो धमनियां या मज्जातन्तु होते हैं उन्ह ठडक की आवश्यकता होती है। बालो के निरन्तर बने रहने से उन्ह ठडक नहीं मिल पाती। केश-वपन (मुंडन) से मस्तक की त्वचा को शीतलता भी मिलती है और उस पर मालिश करने से उसे व्यायाम भी मिलता है जो बौद्धिक स्वास्थ्य के लिये अच्छा माना गया था। मुंडन के बाद 'शिखा" या "चूडा' रखने हेतु दूसरा तर्क यह दिया गया है कि समस्त नाडीचक्र और संवेदना तन्त्र को नियामक नाडी सुषुम्णा" है जो मेरुदण्ड मे स्थित रहती है तथा मूलाधार से प्रारम्भ होकर मस्तक के पृष्ठ भाग तक जाती है। इसके दोनों छोरो की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक माना गया कि उन पर आवरण या रक्षाकवच रखा जाए। सिर के जिस भाग पर सुषुम्णा नाडी का एक छोर माना जाता था उसे 'मस्तुलुग" नाम दिया गया

था। इस पर बालो का भब्बा रखना इसके लिये सुरक्षाकर और स्वास्थ्यकारक मान कर ही चोटी रखी जाती थी। उस स्थान पर कोई चोट न लग जाए इस दृष्टि से वहा शस्त्र या क्षुर (उस्तरा) नही लगाया जाता था। चोटी रखने का यह भी एक वैज्ञानिक आधार बताया गया था। वैसे बालो के स्वास्थ्य की दृष्टि से तथा मस्तक की स्वच्छता की दृष्टि से आधुनिक स्वास्थ्यचर्या मे भी बालो को काटते रहना अच्छा बताया जाता है। बालो म रूसी हो जाने पर उस्तरे से केशो की सफाई केशो की सुरक्षा और सवधन मे आज भी सहायक मानी जाती है। उसका प्रमुख कारण तो यही है कि उससे सिर की त्वचा की सफाई अधिक सुविधा से सम्भव हो जाती है। घने बालो की तह मे मल की परतें जम जाना अधिक सम्भव हो जाता है।

इस प्रकार चोटी के अलावा अन्य केशो का मु डन तथा चोटी रखने का यह सस्कार शारीरिक और बौद्धिक उत्कर्ष का सस्कार बताया गया है। इसी के साथ काटे हुए बालो को गोबर के पिंड मे रख कर कही दूर विसर्जित कर देने का तथा उसके बाद सिर की त्वचा की और चोटी की सफाई जम जल और कुछ वनस्पतियो के मिश्रण से करने का जो विधान शास्त्रो मे मिलता है उससे परिवेश की स्वच्छता की ओर भी ध्यान दिया गया लगता है।

10 कर्णवेध

जसा पहले बताया जा चुका है इस सस्कार का उल्लेख कुछ शास्त्रकारो न किया है और कुछ ने नही। जिन्होने उल्लेख किया है उन्होने भी यह स दभ अवश्य दिया है कि यह सस्कार कन्याओ के लिये भी आवश्यक है। इससे प्रतीत होता है कि मूलत यह सस्कार कन्याओ के दृष्टिकोण से ही प्रचलित हुआ होगा, बाद म उसे सभी के लिये विहित कर दिया गया। इसमे कान की लौ को सोने या चादी की पतली और स्वच्छ नोकदार सुई से छेदने का विधान है। यह काय या तो किसी वयोवृद्ध महिला द्वारा किया जाता है या सुनार द्वारा। बालक के दाहिने कान को पहले छेदा जाता है फिर बायें को। जबकि कन्याओ के बायें कान को पहले छेदा जाता है। शास्त्रो मे इस सस्कार का उद्देश्य यह बताया गया है कि इससे अनेक नाडी सस्थान मजबूत होते हैं तथा रश्मियो के प्रवेश से स्वास्थ्य भी बढता है। कन्याओ को इससे सहनशीलता का अभ्यास होता है। इस सस्कार के साथ पद्धति की पुस्तको मे पूजन और मिठाई बाटने का विधान भी मिलता है। इसके साथ यह उल्लेख मिलता है कि कन्याओ के नाक छेदने या कान के ऊपर के हिस्स मे या अन्य किसी स्थान पर वेधन करने की रीतिया कुलाचार के अनुसार की जा सकती हैं। इससे भी यह प्रतीत होता है कि गहने पहनने के उद्देश्य से तथा लौकिक रीतियो के लिहाज से भी इसे सस्कारो मे शामिल किया गया था।

होता उनमे भी विवाह के पूर्व इसका विधान कर दिया जाता है। बिना जनेऊ पहने तीनो वर्णों मे विवाह उचित नहीं माना जाता।

इस संस्कार के लिये आयु 8 वर्ष से लेकर 16 वर्ष के बीच बताई गई है। अलग अलग वर्णों के लिये अलग अलग आयु का भी विधान है किन्तु किशोर अवस्था आने तक यह संस्कार करना जरूरी था। उसके बीत जाने पर भी यदि संस्कार न हो तो उस व्यक्ति को पतित माना जाता था। इस संस्कार के समय जो डोरा पहनाया जाता है उसका मूल तो यह था कि शिक्षा संस्थाओ मे जाने के समय बालक वस्त्र पहनने का सलीका सीखे। इसके लिये उसे प्राचीन काल मे उपवीत पहनाया जाता था जो शरीर के ऊपर के हिस्से का आवरण था। उससे पूर्व बच्चे अधोवस्त्र तो पहनते ही थे, अन्य वस्त्र किसी भी तरह के पहन लेते थे। अब अनुशासन मे रहने के लिये खास प्रकार का वस्त्र पहनाया जाने लगा। इसी को यज्ञ के साथ पहनाने के कारण यज्ञोपवीत कहा गया। आजकल भी शिक्षा संस्थाओं मे यूनिफार्म निर्धारित होती ही है। धीरे धीरे प्रतीक के रूप मे यह तीन डोरी का तथा निर्धारित लम्बाई का सूत रह गया जिसके साथ अनेक प्रतीकात्मक महत्व जुड गये। वर्तमान पद्धतियो मे इसकी लम्बाई 96 चौवे निर्धारित है। चौवे का अर्थ है चार अगुल की नाप। 96 चौवो का सूत लेकर उसे तीन लडो मे बना कर उस पर तीन गाँठें लगा दी जाती हैं। 96 की लम्बाई का प्रतीक यह बताया जाता है कि यह वेदो के मन्त्रो की संख्या है। चार वेदो के एक लाख मन्त्र माने जाते हैं। इन मन्त्रो मे 80 हजार कर्मकाण्ड से संबंधित हैं, 16 हजार उपासना काण्ड से, 4 हजार ज्ञान काण्ड से। इनमे ज्ञानकाण्ड तो अत्यन्त उच्चतर शिक्षा के बाद ही प्राप्त हो सकता है। शेष मन्त्रो की संख्या 96 हजार बनती है। इन्ही के प्रतीक के रूप मे यह लम्बाई ली जाती है। कुछ विद्वान 96 संख्या का महत्व इस प्रकार बताते हैं कि गायत्री के 24 अक्षर हैं जिनका चार वेदो से गुणा करने पर 96 संख्या आती है। उसे तिगुना इसलिये किया जाता है कि यह तीनो सूत व्यक्ति को यह याद दिलायें कि उसे देव, ऋषि और पितृ इन तीनो का ऋण चुकाना है।

। । देव ऋण चुकाने का तात्पर्य है उन नियमो की पालना जिन्हे आध्यात्मिक या धार्मिक कहा जाता था, ऋषि ऋण का तात्पर्य है ज्ञान प्राप्त करने की अनिवार्यता जिससे अब तक की संचित ज्ञान सम्पदा सम्बद्ध रहे नष्ट न हो। पितृ ऋण से तात्पर्य है समाज का वह ऋण जो समाज के प्रति, परिवार के प्रति कर्तव्य निभा कर चुकाया जाये। कभी कभी जनेऊ के तीन डोरो को सत्व रज और तम तीन तत्वो का प्रतीक भी बताया जाता है। इस पर जो तीन गाठें लगाई जाती हैं वह भू, भुवः और सुव इन तीन लोको के प्रतीक के रूप मे लगाई जाती हैं। उनके ऊपर एक और गांठ ब्रह्मग्रंथि के नाम से लगाई जाती है जिसे ओंकार का प्रतीक बताया जाता है।

मन्त्रों के साथ इस यज्ञोपवीत को पहन कर बालक को उस गुरु के पास ले जाया जाता है जो उसे अपने यहा रख कर शिक्षा देगा। वहा पहनने के लिये उसे एक कमरपेटी दी जाती है जो मूज की बनी हुई होती है जिसे मौंजी मेखला भी कहा जाता है। उसके साथ मृगचर्म और दण्ड भी दिया जाता है। यह डण्डा आत्मरक्षा के लिये होता है। आजकल भी बैल्ट कई शिक्षा सस्थाओं मे अनिवार्य है। इसके बाद उसे अनुशासन की शिक्षा दी जाती है जो इस सस्कार का प्रमुख अग है। गुरु से और साथियो से किस प्रकार बर्ताव करना है यह बताया जाता है। गौतम ने बताया है कि इस सस्कार के पहले बालक अपनी इच्छा से घूम सकता था, बोल सकता था और खा सकता था अब तीनो का अलग से अनुशासन उसे बताया जाता है। इसके मत्र उससे बुलवाये जाते हैं और पाबदी करवाई जाती है। गुरु का उसे शिक्षा देना स्वीकार करने का क्षण अच्छे मुहूर्त मे रखवाया जाता है। उसके बाद गुरु उससे गायत्री का मन्त्र बुलवाता है। इसे गायत्री उपदेश कहा जाता है। वैसे तो यह वेदों के उच्चारण की शिक्षा तथा सामान्य शिक्षा का प्रारम्भ है। किन्तु इस मन्त्र को जो सूर्य का मन्त्र है द्विज मात्र के लिये अलौकिक महत्व का मानने के कारण एक प्रकार से इस मन्त्र की दीक्षा इस सस्कार मे ली जाती है। इस दिन के बाद इस मन्त्र को जपना (कम से कम प्रति दिन 10 बार उच्चारण) अनिवार्य माना जाता है। यह भी एक प्रतीक है इस बात का कि पढा लिखा व्यक्ति कम से कम इस एक अनुशासन मे पूर्णत अनुशासित हो।

गायत्री मन्त्र का महत्व हजारो वर्षों से सुविदित है। इसका वास्तविक नाम सावित्री है अर्थात् सविता (सूर्य) देवता की स्तुति की ऋचा। गायत्री एक छद का नाम है। यह ऋचा इस छद मे होने के कारण इसे भी गायत्री कह दिया जाता है। इसके साथ भू भुव सुव ये तीन व्याहृतियाँ बोली जाएँ तो इसे 'सावित्री' कहा जाता है। इसका आशय कुछ इस प्रकार है, 'समस्त त्रिलोकी के नियामक सूर्य के उस उत्कृष्ट तेज की हम उपासना करते हैं जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।" यह बताने की आवश्यकता नही कि सूर्य को समस्त ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च शक्ति मानने की परम्परा हजारो वर्षों से विश्व के प्रत्येक भाग मे रही है। गहराई से सोचा जाये तो प्राणि जगत् के लिये सूर्य का क्या महत्व है यह ज्ञात होते ही उसके प्रति नतमस्तक होना ही पडेगा। यह मन्त्र इसी का प्रतीक है। चाहे छात्र वेद की किसी विशिष्ट शाखा का उच्चतर अध्ययन करे या न करे इस सस्कार के रूप मे इस मन्त्र की शिक्षा लेना उसके लिये अनिवार्य माना जाता था। इस प्रकार इस मन्त्र को सीखना यज्ञोपवीत पहनने और गुरु से शिक्षा लेना प्रारम्भ करने का प्रतीक यह सस्कार आज भी चला आ रहा है। इस सस्कार के बाद ही पुरुष वेद का उच्चारण करने तथा यज्ञ करने का अधिकारी माना जाता था। इस अवसर पर बुद्धि को तीव्र करने के

मन्त्रों के साथ आहुतियां दी जाती हैं। मेधाजनन नामक संस्कार भी किया जाता है। बुद्धिसवर्धन में सूर्य के महत्व को देख कर ही विद्यार्थी के लिये (जिसे ब्रह्मचारी कहा जाता था) दिन में तीन बार सूर्य की वंदना करना और अर्घ्य देना वाछनीय बताया गया था। सूर्य के उदय होते समय गायत्री मंत्र बोल कर अर्घ्य देने की विधि को प्रात संध्या वंदन कहा जाता है, ठीक मध्याह्न के समय मध्याह्न सध्या वंदन किया जाता है और अस्त होते समय साय सध्या वंदन। इस प्रकार त्रिकाल संध्या करने वाले को अनेक शक्तियां और उत्कर्ष प्राप्त होता है यह बताया गया है। संध्या वंदन के साथ प्राणायाम जैसी कुछ यौगिक क्रियाओं को इस प्रकार जोड दिया गया है कि धार्मिक अनिवार्यता की आड में वे बाल्यावस्था से लेकर अन्त तक श्वास और रक्त सचार प्रणाली को व्यायाम देती रहे। रक्तचाप आदि पर प्राणायाम का कितना हितकारी प्रभाव होता है यह सुविदित है।

उपयन संस्कार की वर्तमान पद्धतियों में यह भी बताया गया है कि कभी कभी गुरु अलग से न मिलने पर स्वयं पिता ही अच्छे मुहूर्त में बालक को गायत्री उपदेश दे देता है और अनुशासन वाले मंत्र पढ देता है। दूसरे शब्दों में उसकी शिक्षा का जिम्मा वह स्वयं ले लेता है। पहले उपवीत अर्थात् यूनिफार्म पहना कर भेजना तो अभिभावक का कर्त्तव्य माना जाता था और शिक्षा देना गुरु का। इसलिये जनेऊ पहनाने के लिये पिता का हाथ लगाना अनिवार्य होता है, यद्यपि कभी कभी सम्मान के रूप में आजकल जनेऊ में वहा उपस्थित सभी विद्वानों का हाथ लगवा दिया जाता है। इस जनेऊ को बायें कन्धे पर और दाहिने हाथ के नीचे पहना जाता है। इसे जीवन भर पहने रहना अनिवार्य बताया गया है। यह संस्कार केवल पुरुषों के लिये बताया गया है कन्याओं के लिये नहीं। वेद काल में जो कन्यायें वेदों की उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती थी उन्हें भी गुरुकुल में भेजा जाता था, जनेऊ पहनाया जाता था इसका उल्लेख कहीं कहीं अवश्य मिलता है। बाद में सुधारवादी समाजो (जैसे आर्य समाज) ने यह प्रथा चलाई कि विवाह के बाद पति पत्नी को यज्ञोपवीत पहना सकता है किन्तु तीनों वर्णों के पुत्रों के लिये तो यह संस्कार अनिवार्य ही बताया गया है। इस तरह 8 से 16 वर्ष के बीच की आयु में तीनों वर्णों के पुरुष जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रतीक यह संस्कार शिक्षा में उत्कर्ष का सूचक है।

12 वेदव्रत

उपनयन संस्कार द्वारा गुरुकुल में जो विद्यार्थी शिक्षा लेना शुरू कर देते थे उनका अगला संस्कार वेदारम्भ होता था जिसे वेदव्रत भी कहा जाता है। इस संस्कार में वेद का विधिवत् अध्ययन शुरू करने का विधान है। यज्ञोपवीत के बाद

वेद मन्त्रो का उच्चारण करना सिखाया जाता था और उसका अधिकार उसे प्राप्त हो जाता था किन्तु विधिवत् वेदो का अर्थ समझने के लिये जो प्रारम्भिक शिक्षा आवश्यक होती है उसके बिना वेद का अध्ययन सार्थक नही हो सकता अत पहले वेदागों की शिक्षा दी जाती थी। (1) शिक्षा, (2) कल्प, (3) व्याकरण, (4) निरुक्त, (5) छद और (6) ज्योतिष ये छ वेदाग बताये गये हैं। इनमे क्रमश (1) उच्चारण, (2) कर्मकाड और सामाजिक ज्ञान, (3) वाक्यार्थ और वेदार्थ,(4) शब्दो की व्युत्पत्ति और अर्थ, (5) छद और (6) ब्रह्माण्ड विद्या की शिक्षा दी जाती थी जिससे छात्र वेद का अर्थ समझ सकें। फिर वेद के 3 भागो को समझाया जाता था (1) विधि (कर्मकाड) (2) विधेय (मत्र) और (3) तर्क (ब्राह्मण)। कहीं कही (1) ब्राह्मण, (2) मत्र और (3) अर्थवाद गिनाए गए है। वेदो मे वर्णित नियम या सामाजिक विधान बता कर उनका टक्स्ट पढाया जाता था और इन सबका उद्देश्य क्या है यह भी बताया जाता था। लगता है समय बीतने के साथ साथ तर्क वाला अर्थ समझाने का प्रकार धीरे धीरे समाप्त हो गया और केवल उच्चारण ही वेदाध्ययन का रूप रह गया।

इस प्रकार भाषा प्रारम्भिक शिक्षा और अन्य शास्त्रो का अनुशीलन करने के बाद वेदो का अध्ययन करने मे विद्यार्थी गुरुकुल मे बहुत समय लगाता था। वेदारम्भ की आयु 12 वर्ष से लेकर 24 वर्ष तक बताई गई है। यह भी बताया गया है कि गुरुकुल मे सास्थानिक अध्ययन के लिये कम से कम 12 वर्ष का समय आवश्यक है। बाद मे कलियुग को देखते हुए जो लोग अन्य व्यवसायो मे जाना चाहें और पूरा अध्ययन न करें उनके लिये भी कम से कम 5 वर्ष की गुरुकुल शिक्षा जरूरी बताई गई। जो छात्र चार वेदो का अध्ययन करना चाहे उसके लिये 4 अलग-अलग सस्कार आवश्यक होते थे (वैसे अपने गोत्र के लिये निर्धारित वेद या उसकी निर्धारित शाखा का अध्ययन करना ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक माना जाता था)। यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने वेदव्रतो को चार सस्कारो के रूप मे अलग अलग गिनाया है। उन्होने कर्णवेध, केशान्त आदि कुछ सस्कारो की बजाय इसी को चार सस्कारो के रूप मे गिना कर 16 की सख्या पूरी की है। कुछ आचार्यों ने इसे अलग सस्कार न बता कर उपनयन का ही अग मान लिया है। आजकल तो यह सस्कार प्राय लुप्त ही हो गया है। यज्ञोपवीत के साथ ही इसके मत्र बुलवा दिये जाते हैं किन्तु इसके विधान से प्रतीत होता है कि जिस युग मे प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये लगभग 4-4 वर्ष दे कर ब्रह्मचारी को विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी उस समय का यह सस्कार है। तभी बाद मे इसके स्थान पर अन्य सस्कारो की गिनती की जाने लगी।

13 केशान्त

इस सस्कार की आयु 16 वर्ष से 25 वर्ष के बीच मे बताई गई है।

इसका विधान कुछ इस प्रकार का मिलता है कि गुरुकुल मे शिक्षा समाप्त कर जब विद्यार्थी लौटे उस समय घर मे माता पिता द्वारा उसके केशो का मुण्डन किया जाय किन्तु इसका उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि चौल संस्कार या मुण्डन संस्कार जिस प्रकार सिर के बालो की सार सभाल सिखाने का संस्कार है उसी प्रकार दाढी मूछ की सार सभाल का यह संस्कार है। तभी यह कहा गया है कि गुरुकुल मे रहते हुए यदि 17वा वर्ष लगे तो आचार्य स्वय उसकी दाढी मूछ का छेदन करे। इसका तात्पर्य यही लगता है कि जिस उम्र मे दाढी मूछ आना शुरू होती है उसी उम्र में उसे इनके क्षौर का प्रकार सिखा दिया जाय।

इसके विधान मे मुह गम पानी से धोकर स्वच्छ उस्तरे से कुशो के साथ बालो का काटना बताया गया है। स्वच्छता और नीरोगता के उद्देश्य से अन्य ऐसे पदार्थों का प्रयोग भी बताया गया है जो इस काय में सहायक हो (जसे सेली का काटा गोबर तथा कुछ औषधियां)। समय के साथ साथ इसका स्वरूप भी बाद मे पूजा और होम के साथ किये जाने वाले समारोह का रह गया। आजकल तो वह भी समाप्त हो गया है। बस किशोर अवस्था की समाप्ति के साथ साथ आजकल के युवक अपनी शेव करना सीख जाते हैं यह बात अलग है। शास्त्रो मे इसे गुरुकुल की कठिन शिक्षा समाप्त करने के बाद किया जाने वाला संस्कार सम्भवत इसलिये भी बताया गया है कि गहन शिक्षा के समय बालो की सार सभाल पर विद्यार्थी उतना समय नही दे पाता अत उसके पूरा होते ही उसे बालो पर ध्यान देने की अनुमति दी जाती है। यही कारण है कि इससे अगले संस्कार समावतन से पूर्व विद्यार्थी को शृगार करना इत्र आदि वस्तुओ और सौदय प्रसाधनो का प्रयोग करना यहा तक कि दपण देखने तक का निषेध होता है। गुरुकुल से लौटने के बाद ही इन सब की अनुमति दी जाती है।

यह बात विशेष ध्यान दने की है कि चौल और केशान्त आदि जितने भी संस्कार केशो के या शरीर के रक्तस्राव से सबधित हैं उन सबमे सिर को और उस्तरे आदि शस्त्रो को गम पानी के प्रयोग से निमल करने का शास्त्रो में स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीनतम ग्रथो तक म इस उल्लेख का तात्पय है जल को उबाल कर कीटाणुरहित कर लिया जाए और उसी से प्रक्षालन किया जाए। उबाल कर कीटाणुरहित करने की यह विधि सवत्र विज्ञान सम्मत है और सक्रमण निरोधक है। शास्त्रों म कीटाणु शब्द का प्रयोग नही किया गया है बाकी सारा विधान स्पष्टत इसी का विवेचन करता हुआ प्रतीत होता है। प्रत्येक अग्निहोत्र (होम) के समय भी जल और अन्य अनेक पदार्थों को इसी प्रकार कीटाणुनाशक द्वारा स्वच्छ करने का विधान मिलता है।

चू कि यह संस्कार विद्याध्ययन के व्रत की समाप्ति पर बढे हुए बालो का क्षौर करने का संस्कार या व्रत कालान्तर में यह इस बात का प्रतीक भी बन गया

कि कोई विशेष सकल्प लेने या व्रत अगीकार करने के बाद लोग तब तक बाल बढाते रहते थे और क्षौर नही करवाते थे जब तक कि उस व्रत की पूर्ति न हो जाए। केशो पर, इस प्रकार, किसी विशेष सकल्प की पूर्ति का भार डाल देने का एक उदाहरण यह भी है कि दु शासन द्वारा द्रौपदी के केश पकड कर भरी सभा मे उसका अपमान किये जाने पर द्रौपदी ने यह प्रतिज्ञा ली थी कि वह तब तक वेणी नहीं बाँधेगी जब तक दु शासन के रक्त से सने हाथो से भीमसेन उसका जूडा नही बाधेगा। इसी प्रकार अपने शत्रु नन्द राजाओ का पूर्ण नाश जब तक नही हो जायेगा, मैं शिखा नही बाँधूगा यह चाणक्य की प्रतिज्ञा भी प्रसिद्ध है।

14 समावर्तन

गुरुकुल मे विद्याध्ययन पूरा करने के बाद सफल होकर घर लौटने का यह सस्कार है। इसका शब्दार्थ है पूर्णत लौटना। ब्रह्मचारी (छात्र) जितना अध्ययन करना चाहता था उसे पूरा कर गुरु की अनुमति से वापस लौटता था। कुछ ही ऐसे होते थे जो सदा के लिए गुरुकुल मे रह जाते थे उसका भार सम्भाल लेते थे या सासारिक कर्तव्यो की बजाय तपोवन मे रहकर पढना पढाना ही पसन्द करते थे अपना गुरुकुल चलाने लगते थे या आध्यात्मिक कार्यो मे लग जाते थे। उन्हें नष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। वेदो का सागोपाग अध्ययन करने मे अधिक समय लगता था और ऐसे छात्रो को कठोर नियमो का पालन करना होता था जो वेदव्रत (सामवेद के अध्ययन का सकल्प) लेते थे। शेष छात्र वेद की अपनी शाखा पढकर अन्य विद्याए पढते थे। इस प्रकार कम से कम 5 और अधिक से अधिक 36 वर्ष तक अध्ययन करा चुकने के बाद जब गुरु यह पाता था कि छात्र अध्ययन मे सफल हो गया है तो गुरकुल के सारे छात्रो के बीच उसका मूल्याकन किया जाता था। यह एक प्रकार की परीक्षा प्रणाली थी जिसमे उपस्थित सभी लोग छात्र से वेद का या शास्त्र का (किसी भी स्थल का) अर्थ करवाते थे। कोई भी किसी भी प्रकार का प्रश्न उससे पूछ सकता था। शास्त्र का अर्थ पूछने की यह प्रक्रिया इतनी प्रचलित हो गई कि बाद में किसी भी विषय पर विद्वानो के वाद विवाद को "शास्त्रार्थ" कहा जाने लगा।

इस प्रकार की परीक्षा मे सफल हो जाने के बाद गुरु शिष्य को विधिवत् स्नान करके घर लौटने की अनुमति देता था। विधिवत् किये गये इस स्नान के बाद उसे 'स्नातक' या 'निष्णात कहा जाता था। दोनो का शब्दार्थ है 'नहाया हुआ'। आजकल भी इस सस्कार का स्नातक शब्द तो प्रचलित हो गया है (ग्रेजुएट के अर्थ मे) चाहे अब स्नान की विधि का उससे कोई सम्बन्ध नही है। उसके साथ "उत्तर" जोडकर स्नातकोत्तर (पोस्ट ग्रेजुएट के लिए) अपनी ओर से और बना लिया गया है। जो छात्र केवल शास्त्र पढ कर निकलते थे उन्हे विद्यास्नातक वेदव्रत पूरा करने

वालो को व्रत-स्नातक और दोनो मे सफल होने वालो को विद्याव्रतस्नातक कहा जाता था। निष्णात शब्द 'दक्ष' के अर्थ मे पहले ही रूढ हो गया था।

इस अवसर पर गुरु जो उपदेश देता था वे बडे मार्मिक हैं जो उपनिषदो आरण्यको और शास्त्रो मे आज भी मिलते हैं। कभी-कभी विश्वविद्यालयो आदि के दीक्षात समारोहो मे उनका वाचन भी किया जाने लगा है (जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली वाला उपदेश)।

इस समय की एक रीति यह थी कि शिष्य गुरु से पूछता था कि वह उनकी कौनसी आज्ञा का पालन करे अर्थात् कौनसी इच्छा पूरी करे। इसे गुरु दक्षिणा कहा जाता था। इस अवसर पर गुरु उससे जो माग करता था उसको वह स्वय पूरी करता था या बाद मे समर्थ हो जाने पर उसकी पूर्ति करता था (अपने माता-पिता के बल पर नही)। यही कारण है कि सफल होने के बाद ही छात्र से दक्षिणा चाही जाती थी। अध्ययन काल मे तो उसका गुरुकुल का खर्च गृहस्थ समाज के अनुदान (भिक्षा) से चलता था।

गुरुकुल से लौटने की प्राचीन परम्परा के निर्वाहार्थ यह सस्कार अब भी चल रहा है चाहे व्यक्ति ने गुरुकुल मे शिक्षा ली हो या अन्यत्र कहीं। इसका समय उत्तरायण सूर्य मे ही बताया गया है। वर्तमान पद्धतियो मे इस अवसर पर होम पूजा आदि का विधान मिलता है। छात्र दड, मेखला आदि गुरुकुल के चिन्ह वही छोड देता है और यज्ञोपवीत दूसरा धारण करता है। चूकि उसे ससार यात्रा चलानी है इसलिए शृगार प्रसाधन लगाने दर्पण देखने, छाता रखने, जूते पहनने आदि की अनुमति दी जाती है जिनका उपयोग वह उसी समय आरम्भ करता है। यह माना जाता है कि विद्याध्ययन करके उसन ऋषि ऋण तो अधिकाशत चुका दिया है अब शास्त्र की आज्ञाओ का पालन करके देव ऋण चुकाना है और ससार के क्रम को जारी रखने के लिए विवाह करके पितृ ऋण भी चुकाना है इसलिए इसी समय उसके माता पिता गृहस्थाश्रम मे आने की अनुमति देते हैं। उस जीवन के लिए उपयुक्त शिक्षा देते हैं और शीघ्र ही उसके विवाह की व्यवस्था का प्रारम्भ हो जाता है। आजकल यह सस्कार या तो यज्ञोपवीत के बाद या विवाह से पूर्व सम्पन्न कर लिया जाता है।

15 विवाह

विवाह को सस्कार मानने के अनेक कारण हैं। सस्कारों की परिभाषाओं म एक है हीनांगपूर्ति जिसका तात्पर्य है किसी कमी को पूरा करने वाला कार्य। अर्धांगिनी के बिना व्यक्ति अपूर्ण माना गया इसलिये विवाह के बिना गृहस्थाश्रम मे प्रवेश का और गृहयज्ञों का अधिकारी वह नहीं हो सकता। इस अधिकार की प्राप्ति

के लिये विवाह संस्कार आवश्यक बनाया गया। जिस प्रकार उपनयन संस्कार के बाद व्यक्ति ब्रह्मचय आश्रम मे प्रवेश करता है उसी प्रकार विवाह के बाद गृहस्थाश्रम मे। इस दृष्टि से ये दोनो सस्कार सर्वाधिक महत्वपूरण माने गये। इस प्रकार देव ऋरण और समाज का ऋरण चुकाने के लिये ससार यात्रा चलाने हेतु पूरणता प्राप्ति की साधनभूत जीवन-सहचरी का वरण इसका एक उद्देश्य बताया गया। इसके अन्य प्रयोजनो मे सतति को जन्म देकर सृष्टि का क्रम चलाना भी प्रमुख उद्देश्य माना गया। सतति, जिसका शब्दार्थ ही "निरतरता" है इसलिये भी आवश्यक बताई गई कि जिनके पुत्र न हो उन्हें जलाजलि के बिना नरक से कौन बचायेगा। इसके अतिरिक्त ऐहिक (लौकिक) कामनाओ की पूर्ति को भी वेदो मे "काम" शब्द द्वारा एक प्रमुख उद्देश्य बताया गया है।

वेदकाल मे विवाह का स्वरूप दो वयस्क नागरिको द्वारा परस्पर सहमति से जीवन-सहचर बन जाने का था। धीरे धीरे विविध प्रकार के जायज नाजायज तरीको से विवाह करने की घटनाए हुई जिनको उदाहरण मानते हुए मनु आदि स्मृतिकारो ने आठ प्रकार के विवाह गिनाये जिनमे परस्पर सहमति वाले विवाह को प्राजापत्य विवाह कहा गया। सात अन्य प्रकारो मे 1 ब्राह्म विवाह मे अभिभावक अपनी कन्या को स्वय योग्य वर को ब्याह देता था, 2 दव विवाह मे पुरोहित को दक्षिणा के रूप मे कन्या दे देता था और 3 आर्ष विवाह मे कन्या का शुल्क नही बल्कि गाय का जोड़ा (बल आदि) ले कर कन्या ब्याह देता था। इन सबको सामाजिक मान्यता दे दी गई किन्तु विवाह के अन्य प्रकार भी बताये गये जसे 4 कन्या के माता पिता, उसके घर वालो और कन्या को बहुत सा धन देकर विवाह करना, आसुर विवाह बताया गया, 5 जहां वर और कन्या मे विवाह से पूव प्रेम तथा शारीरिक सम्बन्ध हो गया हो उसे गान्धव विवाह कहा गया, 6 आक्रमण या हरण द्वारा कन्या को ले जाना क्षात्र या राक्षस विवाह और 7 धोखे या बलात्कार द्वारा कन्या के शरीर को दूषित कर उस पर दावा करना पशाच विवाह कहा गया। इन सबको अधम विवाह बताया गया।

वेदकाल मे अन्तर्जातीय अर्थात् ब्राह्मरण, क्षत्रिय वश्य और शूद्र इन चारो वर्णों मे परस्पर विवाह प्रचलित था, ऐसा विद्वानो का मानना है। धीरे धीरे पुरुष प्रधान समाज की प्रकृति के कारण उत्तम वरण का वर अपने से नीचे व ले वरण की कन्या तो लेने लगा किन्तु अपने से ऊपर वाले वरण की कन्या लेना उचित नही माना गया। बाद मे शूद्र वरण की कन्या से विवाह निषिद्ध कर दिया गया। कालान्तर मे केवल सजातीयो मे विवाह किया जाने लगा। इसी प्रकार वेदकाल में भाई बहनो का विवाह वर्जित था, बाद मे निकट सम्बन्धियों मे विवाह अनुचित माना गया, फिर माता पिता की छ पीढियो मे विवाह निषिद्ध हुआ। वतमान

अपने ही गोत्र मे विवाह टालने का विधान है। इस प्रकार निकट गोत्रजो म विवाह वर्जित हुआ।

शास्त्रो मे इस सस्कार का जो विधान है उसके चार प्रमुख अग हैं—एक तो वर और कन्या की परस्पर सहमति एक दूसरे को देखना और हाथ पकड कर कुछ प्रतिज्ञाए करना दूसरा अग्नि और देवताओ के साक्ष्य मे एक साथ सात कदम चल कर जीवन के सात सकल्पो मे सहभागी होना तीसरा पत्नी को अपने घर ले जाकर पति द्वारा सम्बन्धियो से परिचित कराना और चौथा पत्नी के साथ गृहाग्नि मे गृहयज्ञो का प्रारम्भ करना। इनमे प्रथम दो को तो कानून द्वारा भी विवाह की अनिवार्य शर्तें माना गया है। वर्तमान पद्धतियो में लग्न अर्थात् विवाह के शुभ मुहूर्त से पूर्व सगाई जसी एक रीति का भी विधान मिलता है जिसमे वर, गुरुकुल से लौट कर अपने अभिभावको की अनुमति से अपने चार विश्वस्त सहयोगियो या शुभचिन्तको को योग्य कन्या की तलाश के लिये भेजता है। ऐसे चार व्यक्ति उसके गोत्र आदि का विवरण बतलाते हुए (जिससे सगोत्र विवाह आदि की सभावना न रहे) कन्या का निश्चय करते हैं। कही कही वर और कन्या के पिता आपस मे ऐसा निश्चय करते है जिसे वागदान कहा गया है। इसके बाद अच्छे मुहूर्त म अभिभावक पुत्र को ले कर जिसको सस्काय कहा गया है कन्या पिता के यहा जाते हैं। निर्धारित मुहूर्त मे वर कन्या का हाथ अपने हाथ मे लेकर एक दूसरे के अनुकूल आचरण और कर्त्तव्य पालन के सकल्प करता है जो इस सस्कार का प्रमुख अग है। इसी कारण इसे पाणिग्रहण भी कहा जाता है। इस अवसर पर पहली बार एक दूसरे को गहराई से देखना व इस आशय के वर के वाक्य कि हम दोनो मिलजुल कर सामाजिक कर्त्तव्य निभायेंगे, एक दूसरे का आदर करेंगे, एक दूसरे के वाक्यो का पालन करेंगे, तुम्हे मेरी बात पर ध्यान देना होगा आदि इस सस्कार की विधियो मे हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि मूलत दो वयस्क व्यक्तियो द्वारा परस्पर साथ रहने के इकरार के रूप मे यह सस्कार था। अवयस्क और अबोध बालको द्वारा इस प्रकार के इकरार का प्रश्न नहीं उठता। लगता है अवयस्क वर कन्याओ के विवाह की प्रथा शायद बाद मे ही कभी चल पडी हो।

इस अवसर के वेद मत्रो मे वर कन्या से कहता है कि तुम्हे देवताओ ने मुझे दिया है (मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा)। इसके आधार पर कन्या का दान करने को इस सस्कार का एक अग बताया जाने लगा। इसीलिये वर्तमान विवाह पद्धतियो मे कन्या के माता पिता द्वारा कन्यादान करना तथा गहने आदि देना भी विहित है। किन्तु इसका मत्रों द्वारा विशेष विधान वेदो मे नही मिलता। केवल कुछ पुराणों के श्लोको के आधार पर कन्या दान का सकल्प करवाया जाता है। कन्या के सम्बन्धी भी उसे कुछ भेंट देते हैं। यद्यपि इसके आर्थिक, भावनात्मक तथा कोमल पक्ष भी अनेक हैं तथापि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो कन्या का दान या

तो अवयस्क कन्याओं के विवाह कर देने की प्रथा चलने के बाद शुरू हुआ लगता है या इस बात का प्रतीक है कि पुरुष प्रधान समाज होने के कारण स्त्री को भारत मे भी किसी समय सम्पत्ति के रूप में मानने की अवधारणा चल पड़ी थी। सम्पत्ति पर किसी न किसी का स्वामित्व सदा रहता है इसी कारण बचपन मे पिता के अधिकार में यौवन मे पति के, बुढापे मे पुत्रो के अधिकार मे रहने की व्यवस्था स्त्री के लिये की गई। इसी अवधारणा के अन्तर्गत दान भी आता है क्योकि दान सम्पत्ति या पशुधन का ही किया जा सकता है वयस्क व्यक्ति का जिसकी अपनी नागरिकता हो दान कैसे सम्भव है? फिर भी यह कटु सत्य है कि विश्व के अधिकाश भागो मे बहुत बडी कालावधि तक स्त्री को सम्पत्ति माना जाता रहा था। जब से उसे नागरिकता के अधिकार मिलने लगे इसमे सुधार हुआ। यही कारण है कि सुधारवादी समाजो, विशेषकर आर्य समाज ने जो सोलह सस्कार मानता है विवाह सस्कार मे प्राय सारी वैदिक विधि तो या की यो स्वीकृत की है कन्यादान का विधान नही माना। वहा दो वयस्क नागरिको के इकरार के रूप मे यह वैदिक सस्कार विहित है। इसी कारण इसमे दोनो के माता पिता की उपस्थिति या भूमिका अनिवार्य नही है। शायद इसी का फायदा उठा कर पिछले वर्षो मे यह एक आम रिवाज हो गया था कि जो प्रेम विवाह या अन्तर्जातीय विवाह अभिभावको की अनुमति प्राप्त नही कर पाते थे, उन्हें वैधानिक मान्यता दिलवाने के लिये 'आर्य समाज विधि से सस्कार हुआ है' यह कह कर तथा वही सस्कार विधि पूरी कर नियमित किया जाता था। वसे आर्य समाज की विवाह पद्धति से स्पष्ट होता है कि बाल विवाह के घोर विरोधी होने के कारण उन्होने इसमे अनेक सुधार किये थे। विधवा विवाह को मान्यता भी आर्य समाज का प्रमुख पक्ष है क्योकि उनकी मान्यता है कि यह वेद-विहित है।

इस सस्कार का दूसरा अग पति पत्नी द्वारा अग्नि मे आहुतिया देकर सात पग एक साथ चल कर सात कामों मे सहभागिता का सकल्प लेना है। ये सकल्प हैं—(1) इच्छा पूर्ति (इष) मे एक दूसरे का सहयोग तथा (2) शक्ति सवर्धन (ऊर्ज) मे (3) आर्थिक समृद्धि (रायस्पोष) (4) आनन्द (मायोभव) (5) सतानोत्पादन (पशु), (6) जीवन यात्रा के उतार चढावो (ऋतु) मे और सामाजिक दायित्वों के निर्वाह (लोक) मे सदा सहभागी रहने के। इन सकल्पो के साथ सात पग चलने को 'सप्तपदी' कहा जाता है जिसके बाद दोनो का अखण्ड सौहार्द स्थापित माना जाता है। देवताओ से इन सकल्पो की पूर्ति का आशीर्वाद मांगा जाता है। इस समय दोनो का ग्रन्थिबन्धन तथा पति द्वारा पत्नी का पैर पत्थर [illegible] रखवा कर यह कामना भी कि तुम अब मेरे जीवन में अविचल और [illegible] कर के रहो करवाई जाती है क्योकि इस सस्कार का सिद्धान्त यह है कि मृत्यु के अलावा किसी भी कारण से यह बन्धन नहीं टूटता। [illegible]

भी इस बंधन को नहीं तोड़ सकती। इसी का प्रतीक है पति द्वारा पत्नी को ध्रुव तारा का दर्शन कराना। सप्तपदी को कहीं कहीं अग्नि के चारों ओर सात फेरों के रूप में भी विहित किया गया है और कहीं सप्तपदी के अतिरिक्त वर वधू मंत्रों सहित अग्नि की चार बार प्रदक्षिणा करते हैं (तीन बार मंत्रों से, एक बार मौन) और देवताओं की तीन बार, इस प्रकार सात फेरे भी पूरे करने की रीति चल पड़ी है। अनेक लौकिक रीतियां भी जुड़ गई हैं। पति और पत्नी एक दूसरे की कलाई पर कंकण (सूत के डोरों से बना) बांधते हैं, पति वस्त्र एवं गहने पहनाता है, मांग भरता है। शायद इसी को आधार मान कर कुछ समाजों में मंगलसूत्र और मांग को सौभाग्य का प्रतीक माना जाने लगा। इस संस्कार के बाद वधू का गोत्र बदल जाता है अर्थात् उसे पति के गोत्र से जाना जाता है।

विवाह के बाद से व्यक्ति एक यज्ञोपवीत और पहनने लगता है अर्थात् उपनयन के समय शुरू किये गये तीन सूत वाले उपवीत के साथ तीन सूत का एक और उपवीत जो इस बात का प्रतीक है कि अब पत्नी के आ जाने के कारण सामाजिक दायित्वों और ऋणों की पूर्ति का उसे ध्यान रहे। इस प्रकार उपनयन के समय लिया गया जनेऊ (तथा यह अन्य जनेऊ) सदा पहना जाता था, इसे संन्यास ग्रहण करने या मृत्यु तक, जो भी पहले हो, नहीं उतारा जाता था।

चार दिन तक कन्या पिता के घर में ही वर वधू अग्नि में आहुतियां देते हैं और उसके बाद वर वधू को अपने घर ले जाता है जिसे गृह प्रवेश कहा जाता है। कन्या की अपने घर से विदाई इसी कारण अनिवार्य हो जाती है। अपने घर में पति पत्नी का परिचय सभी से कराता है। वेदमंत्रों में संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का हवाला मिलता है। इस समय फिर देवताओं का आशीर्वाद पाने हेतु अग्नि में आहुतियां देने का विधान है। इसके बाद चौथे कार्य के रूप में अपने घर में अग्नि में पत्नी से आहुतियां दिलवाने का विधान है। यह इसका प्रतीक है कि इसके बाद गृहस्थ के पाकयज्ञ (दूसरे शब्दों में रसोई सम्हालना) पत्नी करने लग गई है और इसी के आधार पर गृहस्थाश्रम के अधिकार पति को प्राप्त हो गये हैं। इस अवसर के मंत्रों में पत्नी का गृह स्वामिनी कह कर जो सम्मान दिया गया है वह नारी की प्रतिष्ठा का प्रतीक है। वैसे वर्तमान पद्धतियों में गृह प्रवेश का होम और स्थाली पाक आदि आहुतियां विवाह के समय ही करवा दी जाती हैं।

16 अग्न्याधान

यज्ञ अथवा अग्निहोत्र को वैदिक संस्कृति में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया था। यही कारण है कि अनेक संस्कार अग्नि की स्थापना और उसके संरक्षण से संबंधित हैं। अधिकांश धर्माचार्यों ने सोलह संस्कारों में विवाह को चौदहवां संस्कार मानकर पन्द्रहवें और सोलहवें के रूप में गृह्य अग्नि और श्रौत अग्नि की स्थापना को दो

अलग अलग सस्कार माने हैं। गौतम ने तो 21 तरह के यज्ञो को भी इक्कीस सस्कार मानकर 40 सस्कार गिना दिये। बहुत वर्षों से अग्नि स्थापना के ये सस्कार लुप्त ही हो गए हैं, केवल परपरा बाकी है। वास्तव मे अग्नि के आधान (स्थापना) को इतना महत्त्व देने का एक कारण तो यह भी था कि मानव जीवन के लिए अग्नि का महत्त्व आदिमानव ने जब से समझा तब से गृहकाय, पाक आदि के लिए सदा अग्नि के उपयोग की आवश्यकता अनुभव की गई। आर्यों ने तो यज्ञो के रूप मे अग्नि मे आहुतिया देना ही देवो की प्रीति का प्रमुख धमकाय माना। तब से यह अनिवाय किया गया कि प्रत्येक गृहस्थ सदा अग्नि ज्वलित रखे, बुझने न दे। शायद इसका यह भी कारण रहा हो कि बार-बार अग्नि पैदा करने मे कठिनाई होती थी। अग्नि के अनेक प्रकार आविष्कृत किये गये, उसकी स्तुतियो यज्ञ की वेदियो और यज्ञशालाओ के निर्माण पर विशाल साहित्य लिखा गया। यज्ञ के प्रकारो का तो अन्त ही नही है।

विवाह के बाद गृहस्थ का प्रमुख काय गृहाग्नि की स्थापना बताया गया है। यदि सयुक्त परिवार मे रहने के कारण विवाह के बाद यह न की जाए तो उत्तराधिकार प्राप्त करते ही (दायभाग के अनन्तर) करनी होती थी। छोटे भाई को बडे भाई से बटवारा करते ही यह सस्कार करना होता था। इस अग्नि मे सात प्रकार के गृहयज्ञ किये जाते थे जो सामाजिक दायित्वो के निर्वाह के प्रतीक हैं जसे वैश्वदेव या पच महायज्ञ जिनमे देवयज्ञ देवताओ के प्रति अपने कतव्य के निर्वाहाथ, भूतयज्ञ घर के पशुओ व अन्य प्राणियो के लिए पितृयज्ञ पितरो के लिए मनुष्य यज्ञ परिवार, समाज और अतिथियो के लिए दिया जाने वाला अन्न आदि माने गये और ब्रह्मयज्ञ अपना ज्ञान सुस्थिर रखने और बढाते रहने के लिए किया जाने वाला अध्ययन होता था।

अग्नि के साक्ष्य मे और उससे पकाये अन्न से ये काय किये जाते थे। बाद मे इन्हे अग्नि मे आहुतिया मात्र देकर किय जाने वाला काय बता दिया गया। इस प्रथम गृहयज्ञ के अतिरिक्त (2) प्रतिमास के यज्ञ, (3) श्राद्ध (4) चत्र, (5) श्रावण, (6) आश्विन और (7) मागशीष की पूर्णिमाओ को किये जाने वाले धमकाय इन सबको मिलाकर सात गृहयज्ञ कहा गया।

गृहस्वामी के पूरे जीवनकाल म सदा जलती रहने वाली इस अग्नि का प्रतीकात्मक महत्त्व भी था और व्यावहारिक भी। जब जब घर मे उत्सव आदि होते, इसी अग्नि से कुछ अश लेकर नई वेदी मे स्थापित किया जाता और उससे विशेष यज्ञ होते। इस अग्नि की पहली बार स्थापना शमीगभ (खेजडे के साथ) पीपल की दो लकडियो को जिन्हे अरणि कहा जाता था, विशेष विधि से रगड कर चिनगारी पदा करने के तरीके से की जाती थी। अन्य अनेक प्रकार भी बताये गये हैं।

किसी भी गृहजन की मृत्यु पर उसके दाह संस्कार के लिए इसी गृह्याग्नि से अग्नि ले जाई जाती थी। उसी परंपरा की अनुपालना के प्रतीक स्वरूप आज भी शवयात्रा के साथ घर से किसी पात्र में अग्नि ले जाई जाती है। गृहस्वामी का शव-संस्कार करने के बाद ही गृह्याग्नि की भूमिका पूरी होती थी।

गृह्याग्नि के अतिरिक्त वर्ष में समय समय पर किये जाने वाले यज्ञों (अग्निहोत्र) के लिए श्रौताग्नि (जिसे त्रेता या अग्नित्रय भी कहा गया है) की स्थापना हेतु एक पृथक् संस्कार किया जाता था जिसमें तीन अलग अलग स्थानों पर तीन अग्नियाँ स्थापित की जाती थीं। इन्हें गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय नाम दिया गया है। यह अग्नि भी सदा प्रज्वलित रखी जाती थी। इसमें वर्ष में चार बार किये जाने वाले यज्ञ, नया धान आने पर किये जाने वाले यज्ञ, बरसात में तथा प्रत्येक पखवाड़े में किये जाने वाले यज्ञ, इस प्रकार सात हवियज्ञ किये जाते थे। इन्हें करना आवश्यक बताया गया था। कभी-कभी विशेष समारोह के रूप में सोमरस की आहुति देकर किये जाने वाले विशिष्ट सोमयाग भी किये जाते थे। वे भी सात प्रकार के बताये गये हैं। इन्हें करना अनिवार्य नहीं था।

इस प्रकार सोलह संस्कारों की अवधारणा वेदकाल की परम्परा से जुड़ी हुई है। ये संस्कार जीवन काल में ही किये जाते थे। वैसे मृत्यु के बाद शव का संस्कार जिसे अन्तिम संस्कार या दाह संस्कार भी कहा जाता है—जीवन यात्रा के बाद का बहुत महत्त्वपूर्ण संस्कार है किन्तु वह धर्माचार्यों ने सोलह संस्कारों में नहीं गिनाया है। बस वह भी गृह्याग्नि से शव को जलाकर वातावरण की शुद्धि के उद्देश्य से किया जाने वाला आवश्यक धार्मिक काम है और उसका पूरा विधान वेदों धर्मशास्त्रों तथा पद्धतियों में मिलता है। आर्य समाज द्वारा भी सोलह संस्कार प्राय: इसी प्रकार माने गये हैं। वे अग्न्याधान संबंधी संस्कारों की बजाय चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) को भी संस्कारों में गिनते हैं। उपनयन के बाद ब्रह्मचर्य आश्रम और विवाह के बाद गृहस्थ आश्रम प्रारम्भ होता है। पौत्र हो जाने के बाद 50 वर्ष की आयु के अनन्तर घर छोड़कर वन में रहने लग जाने से वानप्रस्थाश्रम की और सब कुछ छोड़कर संन्यास लेने के संन्यासाश्रम की भी विधि महर्षि दयानन्द ने बताई है।



अस्पृश्यता क्या होती है ?

पिछले वर्षों मे भारतीय धम मे स्पृश्यता और अस्पृश्यता के सिद्धान्तो और वस्तुस्थितियो को लेकर काफी विचार विमश और वाद-विवाद विविध क्षेत्रो मे हुआ है और इस बारे मे भ्रान्तियो तथा स्थापनाओ का कुछ ऐसा व्यूह जाल बन गया है कि प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था के अध्येता के लिये सद्धान्तिक अध्ययन के आधार पर यह निष्कष निकालना भी दुरूह हो गया है कि प्राचीन भारतीय धार्मिक व्यवस्था मे इस सम्बन्ध मे क्या मान्यताएँ थी और उनका रूप परवर्ती काल मे क्या होता गया। कुछ धर्माचार्यों की उक्तियो के भ्रमात्मक निवचनो को लेकर जन-साधारण मे यह भ्रान्ति भी फैली कि प्राचीन काल मे छुआछूत जसी कोई चीज थी और कुछ वण, वग या जातिया अस्पृश्य मानी जाती थी। इस धारणा का निराकरण आधुनिक युग की वज्ञानिक सामाजिक, सवधानिक तथा मानवीय भावनाओ के आधार पर तो हुआ ही है, क्योकि आज का कोई भी प्रबुद्ध नागरिक इस धारणा का हामी नही हो सकता कि अस्पृश्यता जसी रूढि इस युग मे वाछनीय है, किन्तु आश्चय इस बात पर है कि प्राचीन भारत मे विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से जो व्यवस्था थी उसका भी बडा धूमिल और विकृत चित्र जनसाधारण के सामने आ रहा है।

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था जिस जीवन दशन और जिन बौद्धिक सिद्धान्तो पर आधारित थी उनका मौलिक और तार्किक पक्ष इतना हेतुगम और वैज्ञानिक था कि तत्कालीन सभ्यताओ के बौद्धिक धरातल से तो वह निरा ऊचा था ही—यह भी बहुत स्वाभाविक था कि परवर्ती युगो की वैज्ञानिक अवनति और बौद्धिक ह्रास के दिनो मे उसके मौलिक आधारो की समीक्षा न कर उसकी रूढियों की लकीर ही पीटी जाए और उसकी व्यवस्थाओ के शाब्दिक सूत्रो का मनमाना अबौद्धिक अथ कर अल्पज्ञ लोग उसके उद्देश्यो का हनन कर दें और उसका एक पुराण पन्थी और दकियानूस धम का सा चित्र बना कर रख दें। हमारी सभी प्राचीन समाज व्यवस्थाओ का, जिनम प्राय पूव व पूव वदिक सभ्यताओ से लेकर बुद्ध पूव की सभ्यता भी शामिल है, आज जो चित्र बिना ब्यौरे मे पठे हमारे सामने उभरता है वह इसका ज्वलन्त प्रमाण है। अल्पज्ञता के कारण हम प्राचीन वज्ञानिक व्यवस्थाओ को क्या समझ बठते हैं और उसका परिणाम हमारी धम सम्बन्धी धारणाओ पर क्या होता है इसका एक दिलचस्प उदाहरण है—अस्पृश्यता सम्बन्धी

वर्तमान विवाद जिसके बारे में विभिन्न विरोधी धारणाओं के पनप जाने के बाद भी और विभिन्न क्षेत्रों में जिज्ञासा प्रकट किये जाने के बावजूद किसी सुविज्ञ पुराशास्त्री ने इसका अधिकृत विवेचन नहीं किया है।

अस्पृश्यता है क्या ?

वैसे यह बात अपने आप में स्पष्ट विवेचन की अपेक्षा रखती है कि 'अस्पृश्यता' आखिर है क्या ? शायद ही विश्व में कोई ऐसा वर्ग या देश हो जहां हरेक पदार्थ या व्यक्ति को हरेक समय किसी के द्वारा भी छुआ जा सकता हो। कुछ पदार्थ ही ऐसे हैं जैसे विकृत शव, मल, कीटाणु युक्त द्रव्य जिनका छूना स्वास्थ्य एवं सुव्यवस्था की दृष्टि से हितकर नहीं हो सकता। यह तो स्पष्ट ही है कि अस्पृश्यता का परित्याग यदि कर भी दें तो तेजाब बिजली का करेंट बिच्छू या जहरीले कीड़े आदि कुछ चीजों के बारे में उसका निभाना बड़ा मुश्किल है। आज के परिष्कृत युग में विसंक्रामक औषधियों के आविष्कार के बाद भी आपरेशन थियेटर में डाक्टरी की कुछ वस्तुएं या कोढ़ जैसे संक्रामक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति अस्पृश्य माने जाते हैं। इसे अस्पृश्यता या छुआछूत नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन सबके पीछे वैज्ञानिक तर्क का आधार है।

छुआछूत वह कुरीति है जिसके कारण कोई वर्ग विशेष या जाति विशेष सामाजिक भेदभाव की दृष्टि से अस्पृश्य करार दिया जाए। उदाहरणार्थ यदि किसी देश में काले गोरे का सामाजिक भेदभाव या रंग भेद है और एक वर्ग दूसरे वर्ग का स्पर्श करना भी घृणित समझता है तो वह छुआछूत के नाम से पुकारा जा सकता है।

वैदिक युग और उसके बाद

जहां तक प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न है वैदिक या वेद पूर्व समाज में किसी वर्ग या जाति को छूना बुरा माना जाता हो ऐसा उल्लेख वेद में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है वैदिक काल की भारतीय सभ्यता तर्कसंगत बुद्धिवाद पर आधारित और उन्नत भौतिक समृद्धि की परिचायक थी। उस समय आर्य और दासों (या दस्यु) का वर्ग संघर्ष अवश्य था जो एक समृद्ध देश में दो वर्गों की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में वरिष्ठता हेतु स्पर्धा के रूप में चलता था किन्तु उनमें से किसी वर्ग के कभी अस्पृश्य माने जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत पौंड्र पुलिन्द शुल्क पुलकस आदि आर्येतर जातियों से आर्यों के विवाह सम्बन्धों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख है। इन्हें कभी हीन दृष्टि से नहीं देखा गया। जब जब सभ्यता चरम उत्कर्ष पर थी—ऐसे अन्तर्जातीय विवाहों का पर्याप्त प्रचलन था, यह सिद्ध होता है। महाभारत काल

में ही कृष्ण द्वैपायन का जन्म अनार्य कन्या सत्यवती से हुआ था यह सुविदित है तथा व्यास का क्या आदर था यह भी प्रसिद्ध है। भीम का सम्बन्ध हिडिम्बा राक्षसी से, अर्जुन का उलूपी से सोमश्रवा, मन्दपाल तथा जरत्कारु ऋषियों का नाग नामक अनार्य जाति की कन्याओं से हुआ यह भी सुप्रसिद्ध है और बिना स्पर्श के विवाह संभव नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट है कि उस समय तक अनार्य जातियों को अस्पृश्य मानने जैसी कोई समस्या भी नहीं थी। वेदकाल में तो ऐसी भी घटनाएँ हुई हैं जब कवष ऐलूष जैसे अनार्य विद्वानों ने पर्जन्य विद्या जैसे विज्ञानों का सपरिश्रम अध्ययन करके ऋषिपद प्राप्त किया था। आर्य ऋषियों ने उन्हें सहज ही ऋषि नहीं मान लिया था, उनके वैदुष्य का पूर्ण प्रमाण प्राप्त कर जब ज्ञान के साथ गद्दारी नहीं चली तो उन्हें ऋषि स्वीकार करना पड़ा। वेदों में शूद्र गृहपतियों द्वारा किये यज्ञों का उल्लेख है। शूद्राओं से विवाह आम रिवाज था और उसे पूर्ण स्वीकृति प्राप्त थी।

चाहे सामाजिक या राजनैतिक वरिष्ठता के लिये आर्यों और अनार्यों में स्पर्धा रही हो, उच्च वर्ग द्वारा अन्य वर्गों को आर्थिक व नैतिक दृष्टि से वह स्थान नहीं दिया जाता हो जो मानवीय दृष्टि से देय है, शंबूक जैसे शूद्र के तपस्या करके ऋषि बनने का दम भरने पर उसका कानून, राजनीति या कूटनीति की दृष्टि से वध करने तक की नौबत रामराज्य तक में आ जाती हो पर प्राचीन सभ्यता में किसी जाति या वर्ग को अस्पृश्य करार दिया गया हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। तभी तो रामायण और महाभारत में शबर, निषाद आदि शूद्र जातियों के साथ उच्च वर्णों के खान पान विवाह आदि का उल्लेख है।

भारत में अथर्ववेद के समय से ही आयुर्वेद विज्ञान का विकास प्रारम्भ हुआ और बाद में वंश, गोत्र और रक्त की शुद्धता के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया जाने लगा। अमेध्य, दूषित और अस्वास्थ्यकर वस्तुओं के संसर्ग से बचने के कुछ नियम बनने लगे। धर्मसूत्रों के समय, शव अस्थियों मल-मूत्र आदि वस्तुओं के स्पर्श से बचना उचित बतलाया गया। स्मृतियों में काल में धीरे-धीरे इन्हें धार्मिक नियमों का स्वरूप दे दिया गया और जिस प्रकार सभी तार्किक दृष्टिकोण पर आधारित दर्शनों और सिद्धान्तों का ह्रास होता है, उनका बौद्धिक पक्ष न समझने वालों ने बाद में उसे केवल शब्द की लकीर पीटते हुए कट्टर रूप प्रदान कर दिया हो तो इसमें आश्चर्य नहीं किन्तु प्रत्येक प्राचीन धर्म सूत्र और भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि अमेध्य (दूषित) वस्तु का स्पर्श अहितकर है इसलिए इसका स्पर्श न किया जाए। इसमें किसी वर्ग विशेष के छूने न छूने का प्रश्न नहीं है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है धर्मशास्त्रों का "द्रव्य शुद्धि" प्रकरण जिसमें यह विवेचन है कि विभिन्न वस्तुओं को व्यवहार्य व स्पृश्य बनाने के लिए उनकी शुद्धि कैसे की जाए"

यह भी समझाया गया कि कुछ अशुद्धियाँ दूषित वायु में और कुछ दूषित तलछट में रहती हैं। उनके शुद्ध करने की वैज्ञानिक विधियाँ बताई गई।

धर्मशास्त्रों में

इन अध्यायों के अध्ययन से आश्चर्य होता है कि ये शास्त्रकार कीटाणु सिद्धान्त के कितने निकट पहुंच गये थे। इन विवेचनों में गन्ध तथा मल के 'बक्टीरिया' या कीटाणु पद का उल्लेख तो नहीं है किन्तु बाकी सारा विवेचन कीटाणु-वाद का पूर्वज सा लगता है। शव, कुष्ठ रोगी रजस्वला, सूतिका (जो सभी वर्गों और जातियों में हो सकते हैं) आदि इसी आधार पर 'अस्पृश्य' कहे गये। जिस आधार पर शव को जलाना आवश्यक माना गया उसी आधार पर उसे अस्पृश्य माना गया। श्मशान में शव दाह करने वाले व्यक्ति (जिसे चाडाल कहा जाता था, जो कार्य राजा हरिश्चन्द्र ने भी किया था) को छूकर नहाना इसीलिये कुछ धर्मशास्त्रों में विहित किया गया होगा। चाडाल शब्द प्राचीन धर्मशास्त्रों में केवल श्मशानवासी शवदाहक या वधिक (जो मृत्यु दंड पाने वालों को मारने का काम करता था) के लिये प्रयुक्त हुआ है और सिवा उस व्यक्ति के, किसी अन्य पेशा करने वाले व्यक्ति के स्पर्श का कहीं निषेध नहीं किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में जो प्राचीन प्रामाणिक स्मृति है चाडाल का भी उल्लेख नहीं है। वहां केवल यह कहा गया है—

'उदक्याशुचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्।"

रजस्वला स्त्री तथा अन्य अपवित्र, अस्वास्थ्यकर वस्तुओं का संसर्ग होने पर स्नान करे। अन्य सूत्रों और स्मृतियों में भी गौतम धर्म सूत्र का वचन 'पतित-चाडाल सूतिकोदक्या शव स्पृष्टि तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत्' तथा मनुस्मृति का वचन—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति।'

बिलकुल स्पष्ट हैं। किसी भी सूत्र या स्मृति में किसी वर्ण, जाति या वर्ग विशेष को अस्पृश्य मानने का वचन कहीं नहीं दिखलाई देता। ब्राह्मण भी यदि संक्रामक रोग से पीड़ित हो, माता बहन या पत्नी भी यदि रजस्वला या सूतिका हो निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर चाहे सवर्ण हो या और कोई, कुछ निश्चित काल के लिये निर्धारित कारणों से 'अस्पृश्य' कहे जा सकते थे। चूंकि वर्ण और जाति की व्यवस्था भी गुण और कर्म के आधार पर थी जन्म से किसी के अस्पृश्य होने का प्रश्न वैसे भी नहीं था।

इस नितान्त तर्कसंगत और वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का मध्यकाल में उद्देश्य न समझा गया हो और बौद्धिक ह्रास के युग में कट्टरपंथियों ने धीरे धीरे किसी

जाति भर को अस्पृश्य मान लिया हो, यह सम्भव है किन्तु इसमे हिंदू धर्म शास्त्र या आचार्य दोषी नहीं हैं। विदेशियो के शासन काल मे रक्त की पवित्रता की दुहाई देकर 'म्लेच्छो" के ससर्ग के भय से जो कट्टरता बढती गई उसने तो यहा तक रूढिया बना दी थी कि अपवित्रता या आशौच बिजली के करेंट की तरह काम करता है अर्थात् एक व्यक्ति यदि अपवित्र हो जाए तो उसके छूने वाले एक के बाद एक अपवित्र होते चले जायेंगे। कुछ कपडे आशौच के 'सुवाहक' माने जाने लगे—जसे सूती, किन्तु कुछ इन्सुलेटर की तरह पवित्र बने रहे जसे रेशमी या ऊनी। यह सब मध्यकालीन रूढिवाद का करिश्मा था। वेदो मे क्षौर के बाद गरम पानी से शैम्पू और स्नान का वर्णन मिलता है—इससे कुछ लोगो ने यदि यह रूढि बना ली हो कि नापित को छूने के बाद भी कपडे धोकर नहाना चाहिये तो इसमे वेदो का क्या दोष है ?

बौद्धिक ह्रास बनाम रूढ़िवाद

इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे जाति या वर्ण के आधार पर कोई कभी अस्पृश्य नही बतलाया गया है। सवर्णेतर जातियो और वर्णों को जन्म के आधार पर प्राचीन काल मे कभी हीन नही माना गया था इसके उदाहरण भी पर्याप्त हैं। गृहपति होने पर शूद्र समाज मे प्रतिष्ठित होता था विद्वान शूद्र का आदर होता था और वह स्वभावत उच्च वर्ग में आ जाता था। स्पर्धा या राजनतिक कारणो से इस प्रकार की घटनाएँ कम होती हो सो बात अलग है अथवा एकलव्य जसे निष्ठावान् व्यक्ति को भी अर्जुन के प्रति मोह के कारण अच्छे धनुर्धर न बनने देने जसी नीतियां द्रोणाचार्य जैसे यशस्वी की मानवीय दुर्बलताएं रही हो वह भी सभी देशो युगो और समाजो मे पाई जाती हैं।

चिन्तको की चेतावनी

किन्तु भारत मे बौद्धिक ह्रास के युग मे जब जब इस प्रकार के राजनैतिक या आर्थिक कारणो से भेदभाव पनपा है विद्वान् विचारको ने प्रत्येक युग मे तार्किक और वस्तुगत आधारो पर उसे नकारा है। गीता का 'विद्या विनय सपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चव श्वपाके च पडिता समदर्शिन" इसी प्रकार के सामाजिक सुधार की चेतावनी है।

महाभारत के अनुशासन पर्व का 147वा अध्याय तो इसी बात पर लिखा गया है कि ब्राह्मण शूद्र आदि वर्ण जन्म से नहीं बल्कि सामाजिक कार्यों द्वारा प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा अर्जित करने से आदर या अनादर के पात्र होते हैं। पतित एव मूर्ख ब्राह्मण शूद्र माना जाता है और विद्वान् शूद्र ब्राह्मण होता है। भक्ति मार्ग का तो सिद्धान्त ही यह रहा है कि जाति, व्यक्ति के सामाजिक स्तरो से ऊपर उठ कर भावनात्मक एकता के सूत्र मे समस्त समाज बध जाए। इस एकीकरण की

प्रवृत्ति नारद भक्ति सूत्र और श्रीमद्भागवत के समय से ही स्पष्ट परिलक्षित होती है।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभि ।
संजातेस्मिन्नहमावो देहे वै स हरे प्रिय ।"
(भागवत, 11-11-2)

'हरिप्रिय' होना प्रत्येक का अधिकार है। इसे भक्ति मार्ग के आचार्यों ने काय रूप मे परिणत भी किया। गाधी जी द्वारा किया गया नामकरण 'हरिजन' इसीलिये उतना ही प्राचीन एव प्रामाणिक है जितना श्रीमद्भागवत। इसी श्लोक की भावना की अनुगूज नरसी मेहता के वष्णव जन तो तेने कहिये' मे मिलती है और इन दोनो के तत्त्वो और शब्दो को लेकर गाधीजी ने हरिजन' पद द्वारा इस वग को गौरव प्रदान किया है। स्वामी दयानन्द विवेकानन्द महर्षि अरविन्द रानाडे आदि विद्वान विचारक भी यह बात कम कर और प्राचीन एव तकसगत प्रमाणो के साथ कहते यह तो स्वाभाविक ही था। नारद भक्ति सूत्र जसे प्राचीन सूत्र भी स्पष्ट घोषणा करते हैं—"नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेद।"

भावनात्मक एव सामाजिक आधारो पर भक्ति आन्दोलन के जरिये इस प्रकार का घटा पाप करना इसीलिये आवश्यक हुआ कि नितात बौद्धिक एव वस्तुनिष्ठ विवेचन के आधार पर वेदो और ब्राह्मणो मे जिन सिद्धान्तो को स्थापित किया गया था उनका अथ समझना उस ह्रास युग मे प्रत्येक के लिये सम्भव नहीं था। इसलिये आचार्यों ने भावनामूलक सिद्धान्तो द्वारा उन्हीं बातो को व्यावहारिक स्वरूप दिया।

भारत की पुनर्जागृति के युग मे विभिन्न सामाजिक सस्थाओ और विचारको ने जिस बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा की उसके परिणामस्वरूप सामाजिक भेदभावो का निराकरण, समूचे देश मे भावनात्मक एकता का पुन स्थापन और सविधान की साक्षी मे मध्यकालीन रूढियो और कुरीतियो का अस्वीकार किस प्रकार हुआ यह सब तो इस पीढी के इतने निकट की वस्तु है कि उस इतिहास के दुहराने की आवश्यकता नहीं।



3

धार्मिक आधार और मूल्य

ओंकार का महत्त्व : वैज्ञानिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे
श्रमण संस्कृति का प्रभाव
तीर्थ-जननी गगा
वैदिक रुद्र-शकर
देश की रग-रग मे व्याप्त-महादेव
लक्ष्मी बदलते रूप उभरते आयाम
तान्त्रिक रहस्य और शक्तिपूजा
राम का चरित्र
कृष्ण कर्मयोग का सन्देश
मगल भारतीय परम्परा की नजरो मे
नक्षत्र जो देव बन गये

ओंकार का महत्व : वैज्ञानिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

अनेक शताब्दियों से भारत की धर्मप्राण जनता 'ओ३म्" का पावन उच्चारण सुनती आ रही है। वेदघोष ओंकार के उच्चारण से ही प्रारम्भ होता है। यही नहीं, तन्त्र में बीज मन्त्रों के साथ तथा यौगिक क्रियाओं के साथ भी प्रणव अर्थात् ओंकार का उच्चारण पुरानी सनातन परम्परा है। ऊँ की महामातृका का लेखन भी प्रत्येक लिखावट के ऊपर करने तथा मंगल कार्यों और धार्मिक कार्यों के अवसर पर ऊ' चिन्ह लिखने की परम्परा भी वर्षों से चली आ रही है। प्रणव की इस पावनता की परम्परा के प्रति यह देश सदा से नतमस्तक है। इस परम्परा का मूल क्या है और प्रणव की इस महत्ता का कारण क्या है ऐसे प्रश्न सम्भवतः कुछ वर्षों पूर्व तक अधिक नहीं पूछे जाते थे क्योंकि इस देश में शब्द प्रामाण्य के प्रति सदा से श्रद्धा रही है, परम्परा का नमन करना धर्म का एक अंग माना जाता रहा है। किन्तु कुछ वर्षों से बुद्धिजीवी और जिज्ञासु शास्त्रानुसंधित्सु और धर्माध्येता यह जिज्ञासा करने लगे हैं कि ओम् के उच्चारण का इतना महत्त्व किस कारण से हुआ और यह कब से शुरू हुआ आदि।

इस सम्बन्ध में वेदकाल से लेकर अब तक के शास्त्रों और ग्रन्थों का गहन अध्ययन आवश्यक है और इससे सम्बन्धित ज्ञानराशि भी अनन्त है तथापि इस दृष्टि से कि विद्वान् इस विषय पर और गहरा विचार मंथन कर सकें, जो भी जानकारी मुझे मिल पाई है, यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

इस अध्ययन में मेरा दृष्टिकोण मूलतः शोधात्मक तथा ऐतिहासिक है। इसलिये उन विद्वानों से पहले ही क्षमा प्रार्थित हूँ जो वेदों को ईश्वर के मुख से निःसृत और अनादि मानकर वेदकाल के बारे में बात करना नास्तिकता मानते हैं। आधुनिक जिज्ञासुओं के लिये—जो विश्व के विद्वानों के ग्रन्थों के आधार पर ऋग्वेद को प्राचीनतम मानकर वेदकाल, उपनिषत्काल, सूत्रकाल, पुराणकाल आदि के ऐतिहासिक अध्ययन को अहित नहीं मानते, यहां यह संक्षिप्त विवेचन करने का आंशिक प्रयत्न किया गया है कि प्रणव या ओंकार का विवेचन वेदों से लेकर आज तक किस रूप में हुआ है।

वेदकाल में

प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में प्रणव शब्द या ओंकार शब्द विवेचित या उल्लिखित नही पाया जाता। इससे अधिकाश विद्वानो का यह अनुमान है कि उस समय सहिताकाल में ओंकारोच्चारण का वह महत्त्व विख्यात नही हुआ था जो आज है। उपनिषदो के एक प्रसग से यह अनुमान अवश्य होता है कि सामगान के पूर्व ओम् का उच्चारण होता था, उसे ही कही 'उद्गीथ" भी उपनिषदो ने बताया है। सामगान के बीच "हा३उ" का उच्चारण तो आलाप की तरह किया जाता था, यह भी प्रतीत होता है कि ऋचाओ के उच्चारण से पूर्व आलाप की भांति "ओम्" का उच्चारण भी अवश्य किया जाता होगा जिस कारण वेदघोष के साथ इस उच्चारण का साहचर्य जुड गया और उपनिषदो ने इसे उद्गीथ का रूप बताया। ओंकार के सर्वोपरि महत्त्व की स्थापना उपनिषत्काल मे हुई जब वदिक देवता-वाद के स्थान पर ब्रह्मविद्या का महत्त्व प्रकट हुआ। ब्रह्माण्ड की नियामिका उस परात्पर सत्ता को ब्रह्म कहा गया जिसका जानना चरम उपलब्धि बताई गई। 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'।

उपनिषदों मे

ब्रह्मबोध की परम्परा मे उपनिषदो के ऋषि ब्रह्म के प्रकाशक मन्त्रो की खोज करने लगे। यह खोजा गया कि ब्रह्म का प्रकाशक अक्षर कौनसा है। इसी समय यह स्थापना हुई कि ब्रह्म का वाचक अक्षर है प्रणव 'ओमिति ब्रह्म" (तैत्तिरीय उपनिषद्) "तस्य वाचक प्रणव।" (पातञ्जलयोग सूत्र)। विश्व की विभिन्न सस्कृतियो मे अन्धकार से प्रकाश और अज्ञान से ज्ञान की उपलब्धि कैसे हुई इस पर विभिन्न सकल्पनाए मिलती हैं। ज्ञान वाक्, विद्या आदि ईश्वरीय वरदान हैं। ग्रीक सस्कृति मे इसी ज्ञान का उद्भव 'लोगोस' नाम से अभिहित किया गया है। हमारे यहा इसे वाक कहा गया है। ज्ञान का प्रस्फुटन वाक् के रूप मे हुआ और यही प्रथम वाक "ओम्" के रूप मे उद्भूत हुई। यही रहस्य है ओंकार के ब्रह्मा के कठ फाडकर निकलने का। इसका तात्पर्य है ओंकार प्रथम् वाक है वाणी का सर्वप्रथम उद्घोष है। जमिनीय ब्राह्मणोपनिषद् मे कहा गया है कि व्याहृतियो मातृकाओ और अक्षरों का रस प्रजापति ने पी लिया किन्तु एक अक्षर का रस वे नही पी सके। वही ओंकार हुआ। वही वाक् है। प्राण उसका रस है। ओंकार मे ब्रह्माण्ड की प्राणशक्ति निहित है।

"अथैकस्यवाक्षरस्य रस नाशक्नोदादातुम्। ओमित्येतस्यैव। सेय वागभवत्। ओमेव नामपा। तस्य प्राण एव रस।' 1।1।6।7

समस्त परमेष्ठिमडल भूर्लोक भुवर्लोक और सुवर्लोक मे विभाजित है। पृथ्वी भूर्लोक है अन्तरिक्ष (अर्थात् मध्य का वायुमण्डल, स्पेस" या अनत आकाश नहीं) भुवर्लोक है अनत आकाश स्वर्लोक है। कहीं-कहीं स्वर्लोक को केवल द्युलोक मानकर

अनन्त आकाश को महर्लोक" (प्रकाश लोक) भी कहा गया है। यह आधिभौतिक विद्या आर्यों के प्रत्येक धार्मिक कार्यों में उल्लिखित और व्याहृत की जाती थी। इसीलिये इन तीनों को व्याहृति कहा गया। जिस प्रकार बाह्य दृश्य जगत् में ये तीनों लोक हैं उसी प्रकार अग्नि, वायु और इन्द्र तीनों के अधिष्ठाता देव हैं। गायत्री मन्त्र के साथ भी ये तीनों व्याहृतियां बोली जाती हैं। इनके पूर्व ओम् का उच्चारण किया जाता है। उपनिषदों की सकल्पना है कि तीनों व्याहृतियाँ ओंकार में समाहित हैं। भाषिक दृष्टि से ओम् अक्षर में तीन मात्राएं हैं—अ+उ+म्। ये तीनों इन व्याहृतियों की वाचक हैं। जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद् कहती है—

"तासामभिपीडितानां रस प्राणेदत्। तदेतदक्षरमभवदोमिति यदेतत्।"
(1।23।7)

तीनों व्याहृतियों के सपीडन से प्राणरूपी रस निकला, उससे ओंकार का उद्गम हुआ। यह ओंकार समस्त ब्रह्माण्ड का बीजमन्त्र हो गया। समस्त सृष्टि प्रपंच ब्रह्म का ही आभास है अत प्रणव ब्रह्म का वाचक हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि पूर्ण परात्पर ब्रह्म का प्रतीक आकाशब्रह्म ही ओंकार है। आकाश सनातन है—वही 'ख ब्रह्म" है। ओंकार ही वेद है। ईशावास्योपनिषद् में "ओ क्रतो स्मर कृत स्मर" इत्यादि कह कर ओंकार को सत् चित् और आनन्द तीनों का प्रतीक बताया गया है। माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार को भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों को समाहित किये हुए बताया है। वही आत्मा का वाचक है वही ब्रह्म का।

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को ब्रह्मविद्या देते हुए पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म (निरुपाधिक और सोपाधिक) दोनों के वाचक के रूप में ओंकार का उपदेश करते हैं—

"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीमि। "ओमित्येतत्।'

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम्।

एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।'

इस प्रकार ओंकार ही एकाक्षर ब्रह्म है, यह उपनिषदों ने प्रतिपादित किया। प्रश्नोपनिषद् में विवेचन है कि ओंकार एकमात्रिक भी है द्विमात्रिक भी है त्रिमात्रिक भी है। इसकी पहली मात्रा ऋग्वेद, दूसरी यजुर्वेद तीसरी सामवेद की प्रतीक है साथ ही पहली मात्रा भूर्लोक (पृथ्वी) दूसरी भुवर्लोक (चन्द्र), तीसरी स्वर्लोक (सूर्य) की वाचक है।

इस प्रकार उपनिषदों ने पर, अपर और परात्पर ब्रह्म के वाचक के रूप में अक्षर ब्रह्म ओंकार के महत्व की प्रतिष्ठा की।

व्युत्पत्ति

इसी के साथ यह मनन भी आरम्भ हुआ कि "ओम्" की व्युत्पत्ति क्या है ? अर्वाचीन ब्राह्मण ग्रन्थो मे इसका भी विवेचन है। कुछ ग्रन्थो में रक्षणार्थक 'अव्" धातु से ओम् की व्युत्पत्ति की गई है, कुछ मे प्राप्तिवाचक "आप्लृ" धातु से। ओ३म् के साथ जो 3 का अक लिखा जाता है उसका रहस्य भी विविध रूपो मे बताया गया। कही तीन व्याहृतियो के सकेत के रूप मे कही तीन वेदो के, कही ब्रह्मा, विष्णु महेश-इन त्रिदेवो के। वस्तुत इसका उच्चारण वेदघोप के साथ अतिदीर्घकाल तक किया जाता है जिसे "प्लुत" कहते हैं अत 3 का अक यहा लिखा जाता है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन उच्चारणकाल के क्रम से मात्राकाल बताये गये हैं—दीर्घदीर्घतर उच्चारण प्लुत होता है। ओकार सर्वदा प्लुत मे ही उच्चरित होता है। बीजवर्णाभिधान मे इसकी तीन मात्राए तथा पाच रश्मिया बताई गई हैं— 'ओकार प्रणवस्तारो वेदादिवर्तुलो ध्रुव । त्रगुण्य त्रिगुणो ब्रह्म सत्यो मन्त्रादिरव्यय । ब्रह्मबीज त्रितत्व च पचरश्मिस्त्रिदैवत ।"

इस प्रकार इसकी तीन मात्राओ मे सत्व, रज, तम तीनो गुण भी समाहित बताये गये हैं। पुराणो म यह विवेचन भी है कि अकार विष्णु का, उकार शिव का तथा मकार ब्रह्मा का प्रतीक है अत ओकार त्रिदेवात्मक है। कहीं-कहीं इसे द्विमात्रिक (दो मात्रा वाला), कही त्रिमात्रिक और कही पचमात्रिक भी बताया गया है। अ उ और म् की तीन मात्राए तथा प्लुत उच्चारण की दो मात्राए—यो पाच मात्राए भी कही-कही वर्णित हैं।

गीता मे

उपनिषदो की सारभूत, प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता) की तीसरी प्रस्थानस्वरूपा श्रीमद्भगवद्गीता मे ओकार का यही ब्रह्मविद्यागत महत्त्व स्पष्ट किया गया है —

ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य प्रयाति त्यजन् देह स याति परमा गतिम् ।

"जो ओकार का उच्चारण करता हुआ तथा मुझे स्मरण करता हुआ देह छोडता है वह परम गति को प्राप्त होता है।"

सत्रहवें अध्याय मे ब्रह्म का सूत्र (फार्मूला) बताते हुए गीता कहती है —

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा ।
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रिया ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता सतत ब्रह्मवादिनाम् । (23 24)

इसमे यह सकेत है कि ब्रह्म का तीन प्रकार से अभिधान किया गया है—ओम् (अक्षर ब्रह्म), तत् (पर ब्रह्म), सत् (अपर ब्रह्म)। इसका वास्तविक रहस्य यही प्रतीत होता है कि 'ओ तत्सत्' यह ब्रह्म का सूत्र (फामू ला) है जिसमे यह स्थापना है कि ब्रह्म ही (ओम्) तत् (सर्वोपरि नियामक) है और ब्रह्म ही सत् (चरम सत्य के रूप मे समस्त दृश्यसत्ता म व्याप्त) है। वही अपर, पर और परात्पर है। भारतीय ब्रह्मविद्या की विशेषता ही यह है कि यहा उस परम सत्ता को न केवल सबसे ऊपर और परे (Imminent) बताया गया है—बल्कि साथ ही साथ सब मे और हम मे व्याप्त भी (Immanent) बताया गया है। ओम् की तीन मात्राओ मे यही रहस्य निहित है।

इसी श्लोक मे स्पष्ट किया है कि ओकार इस प्रकार ब्रह्म विद्या का प्रतीक है अत ओ तत्सत्" का उच्चारण करके ही ब्रह्मवादी लोग यज्ञ दान और तप करत हैं। यद्यपि इसके आगे के श्लोको मे सद्भाव के अर्थ मे सत् की व्याख्या की गई है और 'ओ' 'तत्' और "सत्" तीनो को ब्रह्म के तीन नाम बताये हैं ऐसा अर्थ इस श्लोक का किया गया है तथापि इसका चरम तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि 'ओ तत् सत्" यह ब्रह्म का बोधक वाक्य है क्योकि इसमे तैत्तिरीय उपनिषद् के "ओम् इति ब्रह्म' वाक्य से ओ और छा दोग्य के "तत्वमसि" महावाक्य से 'तत्' और 'सदेव सौम्येदम्' से सत् लिया गया है और इस प्रकार यह फामू ला या कोड के रूप मे ब्रह्म की परिभाषा की दृष्टि से अभिहित है। इस प्रकार ओकार उपनिषदो के ब्रह्मवाद के महत्वपूर्ण प्रतीकाक्षर के रूप मे गीता के समय तक स्थापित हो चुका था।

योग मे

श्रीमद्भगवद्गीता को 'ब्रह्मविद्या" और 'योगशास्त्र' दोनो कहा गया है। इसमे 'योग' के वे रहस्य वर्णित हैं जिनका भारतीय प्राच्य विद्या की परम्परा म बहुमूल्य योगदान है। इसमे जब ओकार का महत्त्व स्थापित हुआ तो स्वाभाविक था कि योग क्रियाओ म ओकार के नाद को अविभाज्य अग बना दिया जाता। ओकार का नाद नाभि से उत्थित होता है और नाभि मे स्थित मणिपूर चक्र से उठकर हृदयस्थित अनाहतचक्र को झकृत करता हुआ कठ के विशुद्धचक्र मे स्फुट होता है। ज्यो-ज्यो इसका स्वर ऊपर उठता है त्यो त्यों भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र मे पहुच कर यह सहस्रारचक्र तक पहुच जाता है। पातजल योग सूत्र म बताया गया है कि प्रणव मुख्य मत्र है। उसके अर्थ और रहस्य को जानकर उसका जप करन स सिद्धि प्राप्त होती है।

तत्र मे

समोहनतत्र म मत्रयोग का विवेचन करते हुए ओकारको तत्वबीज तो बताया

ही गया है, उसका स्थान आज्ञाचक्र मे वर्णित किया गया है। अव्यक्त ओंकार का स्थान सहस्रारचक्र है। कुंडलिनी शक्ति के व्यक्त होने पर वेग उत्पन्न होता है, उससे स्फोट उससे नाद। प्रथम स्फोट जीवसृष्टि का महानाद है वही ओंकार है। उससे 52 मातृकाएं उत्पन्न होती हैं। पचास मातृकाएं अक्षरमय हैं, इक्यावनवीं प्रकाशरूप है, बावनवी प्रकाश का प्रवाह है। अव्यक्त प्रणव सहस्रार से आज्ञाचक्र मे आकर व्यक्त होता है। इसकी उपासना को नादबिन्दूपासना भी कहा गया है।

इसी दृष्टि से ओंकार साधना का सर्वोत्तम प्रकार है अधिकाधिक मन्द्र ध्वनि से किन्तु अधिकाधिक तीव्र स्फोट या वाल्यूम या ध्वनि के साथ उच्चारण की साधना। पिच (Pitch) या फ्रीक्वेंसी (Frequency) जितनी नीची या गम्भीर (bass) होगी, साथ ही नाद या वाल्यूम (Volume) जितना तीव्र होगा नाडी संस्थान पर नादसाधना का उतना ही प्रभाव परिलक्षित होगा। पाश्चात्य ध्वनि-विज्ञान के अनुसार भी इसी प्रकार का नाद या विस्फोट सर्वाधिक शक्तिशाली होता है। इस प्रकार के विस्फोट से ही उन्होंने साउण्ड बम (Sound Bomb) के निर्माण की संकल्पना भी की है जो अपनी मंद्र ध्वनि के कारण कर्णकुहर फोड सकता है।

वेदोच्चारण के समय प्रारम्भ मे मन्द्र ध्वनि मे प्रणवोच्चारण (जो सामान्यत ऋचाओं मे किया जाता है), फिर मध्य स्वर में (जो यजुओं मे होता है) और फिर तार स्वर मे (साम) करने की प्राचीन परम्परा है। इसी क्रम से पहले अतिमंद्र, फिर मंद्र, फिर मध्य, फिर तार और फिर अतितार स्वर मे ओंकार की नाद साधना विशेष फलदायक सिद्ध हो सकती है।

ओंकार का एक नाम "वर्तुल" और दूसरा 'बिन्दुशीर्ष" है। तांत्रिक परंपरा मे गोल आकार मे उ लिखकर उस पर शुण्डा और उसके ऊपर बिन्दु लगाने का रहस्य सम्भवत यही है कि बिन्दु अव्यक्त प्रणव का प्रतीक है जो सबसे ऊपर सहस्रार मे स्थित होता है। तन्त्रों मे इसकी सात कलाएं बताई गई हैं, परा परात्परा, तदतीता, चित्परा, तत्परा, रसातीता और सर्वातीता। शिव ने जब मानस आत्म-रमण किया तो बिन्दु की उत्पत्ति हुई वह प्रणवरूप में परिणत हुई जिससे समस्त मातृकाएं प्रकटी। ओंकार की बिन्दुरूप अर्धमात्रा को दुर्गासप्तशती मे भगवती का रूप बताया गया है "अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषत।"

पुराणो मे

पुराणो मे ओंकार का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। मार्कण्डेयपुराण मे ओंकारोपासना का महत्त्व बतलाते हुए ओंकार की तीन मात्राओं का माहात्म्य वर्णित है। इसकी तीन मात्राओं को तीन देवो, तीन लोकों तीन अग्नियों का प्रतीक बतलाकर योगी के लिये इसकी साधना आवश्यक बताई गई है। तीर्थों मे तथा देवमन्दिरों में अनेक

देवमूर्तियों को ओंकारस्वरूप बताया गया। मंदिरों में ओंकार का अंकन किया जाने लगा। भगवान शिव के अनेक मंदिर ओंकारेश्वर नाम से जाने जाते हैं जिनमें इन्दौर के पास नर्मदातट का मंदिर प्रसिद्ध है। शिव, गणेश, विष्णु आदि विभिन्न देवताओं को ओंकार के अक्षर में प्रतिष्ठित चित्रित कर उनकी उपासना करने की परम्परा स्थापित हुई।

अन्य सम्प्रदायों में

योग के साथ ओम् के महत्त्व की स्थापना के कारण साधकों में नादबिन्दूपासना और आकारोपासना की जो परम्परा प्रचलित थी उसी को बौद्ध वज्रयानियों ने भी अपनाया। कुण्डलिनी योग की पद्धति में भी ओंकार का नाद महत्त्वपूर्ण माना गया था। "कुल कुण्डलिनी" पद से ओंकार का ही अभिधान किया गया था। इन्हीं साधनापद्धतियों का प्रचार अन्य देशों में भी हुआ और ओंकार की प्रतिष्ठा वहां भी हुई। आज भी तिब्बत में लामाओं के महामन्त्र "ओं मणिपद्मे हुं" में ओंकार सर्वप्रथम आता है। जैन और बौद्ध उपासनापद्धतियों में भी ओंकार का सम्मान तथा प्रमुख मातृका के रूप में उसका उल्लेख पाया जाता है।

भक्ति सम्प्रदायों के लोकप्रिय होने के बाद कुछ भक्तिमार्गियों की यह धारणा पनपी कि ओंकार ब्रह्मवाद का प्रतीक है तथा निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म का वाचक है अतः सगुण साकार भक्ति के लिये उसके स्थान पर कोई अन्य प्रतीकाक्षर स्थापित करना उचित होगा। इसी क्रम में "श्री" या "श्री" लिखे जाने की परम्परा शुरू की गई। पत्रों के ऊपर, लिखावट के प्रारम्भ में जहां पहले ॐ लिखा जाता था वहां श्री लिखा जाने लगा। 'श्रीहरि' जैसे प्रयोग और नामों के पहले श्री लगाने की परम्परा इसी प्रकार प्रचलित हुई। तथापि ओंकार का महत्त्व कम नहीं हुआ। आज भी अनेक स्थानों पर वेदोच्चारण के पूर्व या अन्य मांगलिक कार्यों में 'हरि ओम्' का जो उच्चारण किया जाता है वह इसी ब्रह्मविद्या और भक्ति सिद्धांत के सम्मिलित प्रभाव का निदर्शन है।

कुछ विद्वानों का तो यह मानना है कि भारत के बाहर के धर्मों में भी ओंकार की परम्परा विद्यमान है। अरब देशों में प्रचलित सामी धर्मों, मुस्लिम धर्म आदि में 'आमीन' (Amen) कहने की परम्परा के मूल में भी 'ओम्' ही बताया जाता है। भाषा शास्त्र में आ स्वीकार का वाचक भी है। आमीन भी स्वीकार का वाचक शब्द है (तथास्तु यह ऐसा ही हो यह इसका शाब्दिक अर्थ है) लटिन भाषा में 'सर्वव्यापक' और सर्व का वाचक शब्द "ओमनिस" (Omnis) जिस पर आधारित अनेक शब्द अंग्रेजी में भी प्रचलित हैं (जैसे Omnipresent अर्थात् सर्वव्यापक Omniscient अर्थात् सर्वज्ञ आदि) ओम् से ही निःसृत है ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन

इस प्रकार ओंकार की प्रतिष्ठा और उपासना भारत मे अति प्राचीन काल से ही अलौकिक शक्ति और सिद्धि प्रदान करने वाली मानी गई है। आधुनिक विद्वानो ने भी मानव शरीर पर ओंकारोच्चारण के भौतिक प्रभावो की विवेचना करते हुए बतलाया है कि ध्वनिविज्ञान के अनुसार विवृत स्वर "आ" तथा प्लुत उच्चारण के साथ विभिन्न स्वराघातो के साथ उच्चारित 'ओ" की ध्वनि कण्ठनलिका (Vocal Cords) को पूर्णत खोल कर नाडी तन्त्र को झकृत कर देती हैं। इसी के साथ सतत अनुनासिक या अनुस्वारित उच्चारण नासामूल से लेकर प्रमस्तिष्क तक की तन्त्रिकाओ मे स्पन्दन पैदा कर सकता है—इसलिये ओम् का दीर्घकाल तक विभिन्न ध्वनिग्रामों तथा तारत्व (Pitch) के साथ उच्चारण कठनलिका और शीर्षस्थ नाडीतत्र पर विशिष्ट प्रभाव डालता है। सगीतकारो के द्वारा 'नोम् तोम्" का आलाप इसी पद्धति का प्रतीक है।

एक विद्वान् ने ओम् का रोमन लिपि मे अक्षरीकरण करके A + U + M इन तीन वर्णों को पदार्थ (Matter), ऊर्जा (Energy) तथा प्रज्ञा या चेतना (Intellect या Consciousness) का प्रतीक बतला कर सृष्टिविद्या के मूल मे इन तीनो तत्वो की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। "ओम्" मे जो तीन मात्राएं निहित हैं वे तीन तत्वो, देवो कालो, लोको आदि के प्रतीक के रूप मे भारतीय विद्या की उस प्राचीन क्रम परम्परा को समाहित किये हुए हैं जिनका विवेचन अनुशीलन और अनुसरण आज भी अनेक विशिष्ट सत्फल प्रदान कर सकता है।



श्रमण संस्कृति का प्रभाव

श्रमण संस्कृति भारत की अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है। जैन धर्म के प्रारम्भ के बारे में विचार करते समय पहले कुछ विद्वान् उसे बौद्ध धर्म से अर्वाचीन मानने के कुछ आधार बताने लगे थे किन्तु अब प्रायः सभी विद्वान् उसे बौद्ध धर्म से भी प्राचीन मानते हैं। यह निर्विवाद है कि इन दोनों धर्मों और दर्शनों का प्रभाव परवर्ती संस्कृति एवं चिन्तन पर पड़ा है। उसका आकलन अब तक पूरा नहीं हुआ है और इस दिशा में शोध करने की अब भी गुंजाइश है। इस प्रकार की स्थापनाएं तो हो ही चुकी हैं कि शंकराचार्य के दर्शन पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव था। उनके मायावाद और प्रातिभासिक सत्ता वाले सिद्धान्त पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव बतलाते हुए उन्हें अर्धवैनाशिक और प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा जा चुका है। इसी प्रकार जैन दर्शन के प्रभाव के सम्बन्ध में दो बातें विद्वानों द्वारा कही गयी हैं। एक तो यह कि महावीर के अहिंसा के सन्देश का प्रभाव अन्य सभी दर्शनों और धर्मों पर पड़ा है। अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में जाता था क्योंकि पशु बलि उससे संगत नहीं पड़ती थी। इसलिए पशुबलि का विरोध होने लगा। प्रत्येक कार्य में अहिंसा का दृष्टिकोण (जो एक सिद्धान्त मात्र न हो कर जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है), पूरे देश के चिन्तन पर छा गया था। मनु ने धर्म के लक्षणों में उन महाव्रतों को गिनाया जो महावीर ने बताये थे। उससे पूर्व वैदिक कर्मकाण्ड आदि में तथा धार्मिक दृष्टिकोण में अहिंसा का इतना प्रभाव एवं उसका पूर्ण क्रियान्वयन नहीं पाया जाता।

इसी प्रकार एक और स्थापना की गई है। जैन धर्म का दृष्टिकोण शरीर की वृत्तियों का दमन करने के प्रति समर्पित है। उनके कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी शारीरिक वृत्तियों का दमन आवश्यक है अन्यथा कर्म का लेप बंधन का कारण हो जाता है। इसीलिये धर्म के दस लक्षणों में एक 'तप' को बहुत महत्त्व दिया गया था। इसी का अंग है उपवास जिसका सिद्धान्त है शरीर का इस प्रकार संयम करना कि इच्छाएं पैदा ही न हों। वृत्तियों के इस अनुशासन का तप का [illegible] को जैन धर्म में बहुत महत्त्व दिया गया है। इसी [illegible] में कठोर [illegible] के बंधन, भांति भांति के परीषह (जिनमें [illegible] दि में [illegible] पर कठोर संयम रखना जरूरी बताया ग[illegible] हैं। इसी के क्रम में अन्न और जल का [illegible]

जाता है। भोजन के त्याग को उपवास का प्रमुख लक्षण माना गया है (चाहे यह कहा जाता हो कि कषाय, विषय और आहार तीनो के त्याग का नाम उपवास है, केवल लघन का नही)। उपवास के आचार का इतना महत्त्व इससे पूव कभी नही था। वदिक सस्कृति मे व्रत तो है उपवास नही। वैदिक कृषि प्रधान सस्कृति म यज्ञ, उत्सव आदि का वणन तो है, उपवास का नही। इसे श्रमण सस्कृति का प्रभाव ही माना जा सकता है। सभवत इसी का आधार लेकर परवर्ती हिन्दू धमशास्त्रो मे किसी पाप के प्रायश्चित्त के रूप मे 'उपवासो' का भी विधान किया जाने लगा जिनमें चान्द्रायण जसे व्रत आते थे और उनमे यह विधान था कि आहार को किस प्रकार क्रमिक रूप से कम किया जाये। इससे वृत्तियो का दमन होगा और प्रायश्चित्त हो जायेगा।

इसी क्रम में जन आचार के कुछ अन्य प्रभाव भी सनातनी सस्कृति पर देखे जा सकते हैं। श्रमण सस्कृति मे वर्षाकालीन चार महिनो मे साधुओ और मुनियो द्वारा चातुर्मास्य किया जाता है अर्थात् वे इन चार महिनो मे यात्रा नही करते, एक जगह रह कर धमदेशना (उपदेश) करते हैं। महावीर ने गौतम गणधर को प्रथम धमदेशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को दी थी। जैन आचार्यों के इस चातुर्मास्य के कारण ही वर्षाकालीन चार महिनो मे जैनो के सारे प्रमुख धार्मिक पव केंद्रित हो गये हैं। इस चातुर्मास्य की परम्परा का प्रभाव सनातन सस्कृति पर भी पडा लगता है। वेदकाल मे ऋषियो या सन्यासियो के चौमासे का कही कोई उल्लेख नही मिलता है। वैसे श्रावणी पूर्णिमा को वेद का स्वाध्याय करने का उल्लेख अवश्य मिलता है जिसे उपाकम कहा जाता था किन्तु चार महिनो मे स्थिर रहने का विधान नही मिलता। यह परम्परा बाद मे ही शुरू हुई जिसके अनुसरण मे आजकल शकराचाय जसे सन्यासी भी आषाढ से कार्तिक तक चातुर्मास्य करते हैं। यह जन आचार का प्रभाव इसीलिये माना जा सकता है कि उससे पूव के किसी भी सूत्र, पुराण या उपनिषद् मे ऐसा उल्लेख नहीं है। आजकल इन चार महिनो मे देवताओ के सोये होने की जो अवधारणा मिलती है या विष्णु के शेषनाग पर चार महिनो तक सोये होने की जो धारणा है वह श्रमण सस्कृति का प्रभाव मालूम पडता है। इसी कारण इन दिनो विवाह मुहूत नहीं निकलता जबकि धम सूत्रो या ब्राह्मण ग्रन्था मे ऐसा कोई निषेध नही पाया जाता। इन महिनों मे तो जन्माष्टमी गणेश चतुर्थी, नवरात्र, आदि अनेक उत्सव होते हैं। यह मान्यता पहले अवश्य थी कि बरसात मे राजा लोग चढाई नही करते थे। विजयदशमी से ही विजय यात्रा शुरू होती थी (यद्यपि यह परम्परा भी बहुत प्राचीन नही है)। इससे पूव उत्तरायण और दक्षिणायन का उल्लेख अवश्य मिलता है और उत्तरायण मे मृत्यु होना अच्छा माना जाता था, यह भी मिलता है किन्तु चातुर्मास्य की परम्परा का उल्लेख इससे पूव नही पाया जाता।

भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष मे चतुर्दशी और पूर्णिमा को जैनाचार के अनेक धार्मिक आयोजन विहित हैं। पर्युषण के सांवत्सरिक पर्व इसी अवसर पर होते हैं। भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी को विष्णुपूजन का कोई विधान प्राचीन ग्रन्थो मे नही मिलता किन्तु पुराणो के अर्वाचीन संस्करणो मे भगवान् अनन्त के नाम से विष्णु पूजा का पर्व "अनन्तचतुर्दशी" गत कुछ शताब्दियो से उत्तर भारत मे बहुत लोकप्रिय है। हो सकता है जैन सांवत्सरिक प्रमुख पर्व के दिन ही विष्णुपूजन के एक व्रत का विधान भी श्रमण संस्कृति का अप्रत्यक्ष प्रभाव हो।

इस प्रकार के अनेक अध्ययन किये जा सकते हैं जिनमे श्रमण संस्कृति का प्रभाव अन्य धर्मों पर तलाशा जा सकता है। इसका उद्देश्य केवल वस्तुनिष्ठ अध्ययन ही होना चाहिये, पारस्परिक ऊँच नीच और तारतम्य बताने का कोई आशय नहीं है। कुछ विद्वानो ने तो यह भी माना है कि पूजा की प्रथा भी श्रमण संस्कृति का प्रभाव है अन्यथा पहले केवल यज्ञ होते थे जो पशु कर्म हैं, पूजा जो पुष्प कर्म है, बाद मे शुरू हुई। ऐसे अध्ययनो के लिये प्रमाण और पुष्ट आधार खोज कर वस्तु स्थिति सामने रखना विद्वानो की रुचि का एक काम हो सकता है।



तीर्थ-जननी गंगा

अनेकों सहस्राब्दियों से पतितपावनी भगवती गंगा इस देश की संस्कृति का प्रतीक रही है। इसने इस देश को पहचान भी दी है, गरिमा भी। यह धर्म का सर्वस्व भी रही है आर्थिक समृद्धि और काव्य-सौन्दर्य की प्रेरणा भी। सनातन धर्म के मूल आधारों में गंगा, गीता, गायत्री, गौ और गोविन्द को गिनाया जाता रहा है। इस देश को इसके नाम से ही पहचाना जाता है— जिस देश में गंगा बहती है' वह देश है यह। यह विश्व की बड़ी नदियों में से एक है। वैसे निरे भौगोलिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो अमेरिका की मिसूरी—मिसीसीपी और मिस्र की नील नदी गंगा से ढाई गुनी बड़ी हैं, चीन की यांगजे और यूरोप की ड्यूब इससे लगभग दुगुनी हैं। किन्तु इसकी महिमा अतुलनीय है। विश्व की अन्य नदियां इसके पासंग में भी नहीं हैं। इस अभूतपूर्व गरिमा के कारण क्या हैं?

वैज्ञानिक, आर्थिक धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से अनेक कारण ऐसे बन गये हैं जिन्होंने इसे यह अतुलनीय महत्त्व दिया है। प्रथम तो यह है कि यह देश के अधिकांश भू भाग को नहलाती हुई और 2900 किलोमीटर का मार्ग तय कर समुद्र में मिलती है। दूसरे भारत की बीसियों नदियाँ इसमें जाकर मिलती हैं। छोटी-छोटी स्थानीय नदियों की संख्या का तो अन्त ही नहीं है जो इसकी गोद में समा जाती हैं। यही कारण है कि अन्त में जाकर बरसात के बाद के दिनों में इसके जल का अपवाह विश्व में सर्वाधिक वेगवान हो जाता है। यह 18 लाख घनफुट पानी का डिस्चार्ज प्रति सेकिण्ड करती है जो विश्व में सर्वाधिक माना जाता है। 432480 वर्गमील का क्षेत्रफल इसका अपवाह क्षेत्र है। तीसरे, भारत की प्रायः सारी संस्कृति इसके किनारे ही पनपी है, अनेक बड़े शहर इसके किनारे बसे हैं। सैकड़ों तीर्थ इस कारण इसके चारों ओर बने हैं इसलिये यह सबसे बड़ा तीर्थ और तीर्थों की जननी बन गई है। तब से अब तक सैकड़ों ऋषियों ने इससे प्रेरणा ली है और अनेक इतिहास पुरुषों ने इसे श्रद्धा दी है। इसके अतिरिक्त इसके जल में कुछ विशेषता भी है जो कीटाणु रहित तो है ही, कीटाणु नाशक भी है। ये सब कारण मिलकर इसे अलौकिक नदी बना देते हैं। पुराणों में इसे देव नदी, स्वर्ग

से धरा पर उतरने वाली नदी माना है। इसका एक कारण यह भी है कि यह कहा से आती है और कहा जाती है यह किसी ने नहीं देखा। गंगोत्री के 13800 फुट ऊँचे जिस हिमनद से यह निकलती है वह बहुत दूर से बर्फ का पहाड जसा दिखाई देता है, उसकी गुहाओ मे से अनेक धाराओ मे इसका जन्म होता है जो अदृश्य ही रहता है। इसी प्रकार बगाल की खाडी मे सकडो धाराओ मे बटकर यह समुद्र म मिलती है और लगभग 60 मील की चिकनी बालुका म फैले पठार के बीच से होकर अदृश्य रूप मे यह समुद्र मे गिरती है। "गगासागर सगम" को तीर्थ के रूप मे बताने के लिए कहीं भी समुद्र सगम मानकर आस्तिक भक्तजनो को गगासागर की पूजा करनी पडती है पर उसका वास्तविक सगम कोई देख नहीं पाता।

गङ्गावतरण—

इस देश के इतिहास मे प्रारम्भ से ही इसका उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद गगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु (सतलज), परोष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाब), वितस्ता (व्यास या वेध) मरुद्वृधा, (सगम), आर्जीकिया (झेलम या व्यास), सुषोमा (सिन्धु) इन नदियो का उल्लेख करता है और उनकी स्तुति करता है।

इम मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता परुष्णिया।
असिक्निया मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ।। (ऋक् 10-75-5)

गगा को वदिक साहित्य ने प्रमुख महत्व दिया है। तत्तिरीय आरण्यक तो गगा के तट पर लिखा गया माना जाता है। वदिक विज्ञानवादियो ने बतलाया है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का रहस्य बतलाते हुए वेदो ने जिस आदिम जलतत्व 'अप्" को आकाश मे व्याप्त कहा था वही आकाश मे वामन अर्थात् सूर्य के चरणांगुष्ठ के लगने से पिघलकर जल बना और आकाश के ध्रुव प्रदेश से सुमेरु पवत पर गिरा। यही गगातत्त्व है और यही रहस्य है आकाशगगा शब्द का, गगा के स्वगनदी होने का, गगावतरण का। स्वग से धरा पर इसके अवतरण की कथा बडी रोमाचकारी है। हजारो वर्षों पूव अपने पूवजो के उद्धार के लिये राजा भगीरथ इसे स्वग से धरती पर लाते हैं। सगर के 60 हजार पुत्र जब अश्वमेध के घोडे की तलाश करते भारत के पूर्वी भाग तक पहुचते हैं और उसी दौरान खोदे हुए समुद्र (जिसे सगर पुत्रो के खोदने के कारण सागर कहा जाता है) के नीचे तपस्या में लगे कपिलमुनि अपनी तपस्या मे व्यवधान होने के कारण रुष्ट हो जाते हैं तो उनकी क्रोधाग्नि सभी सगर पुत्रो को जला डालती है। इस प्रकार दुगति मे पडे पूवजो की सद्गति कसे हो, इसकी चिन्ता करते हुए सगर के वंशज भगीरथ कठिन तपस्या करके स्वग की नदी को धरती पर लाना चाहते हैं ताकि वह अपने प्रवाह से नहलाकर उन्हे सद्गति दे। समस्या आती है कि स्वग से गिरने वाले इस वेगवान् पीयूष प्रवाह को कौन झेले? भगीरथ किसी तरह शकर को राजी करते हैं कि

वे अपने जटाजूट मे इसे झेलें। ऐसा होता भी है। किन्तु वहा से आगे वह निकलने पर उसे राजर्षि जह्नु पी लेते हैं। भगीरथ उन्हे भी तपस्या से प्रसन्न करते हैं। तब वे उस जल को उगलते हैं। शकर के निवास हिमालय से निकलकर बगाल मे कपिलमुनि के पास पडे भगीरथ के पूर्वजो को पवित्र करने के लिये गगा को पूरा देश लाग पकर यहा तक आना पडता है। किन्तु इस बहाने सारा देश पवित्र हो जाता है। यह भगीरथ का प्रयत्न आज तक मुहावरा बना हुआ है।

हिमालय के ऊचे हिमशिखर मानो शिव के जटाजूट हैं जहा से अनेक धाराओ मे हिमनदो (ग्लेशियर) से पिघलकर गगा उतरती है। बीच मे पहाडो की गहराई मे वह विलीन सी दिखलाई देती है और फिर एक ओर भागीरथी और दूसरी ओर जाह्नवी नाम की शाखाओ के रूप मे दिखलाई पडती है। भागीरथी मे हिमालय के खनिजो और जडी बूटियों का द्रव मिलकर ही शायद उसे पूर्ण स्वच्छ और पारदर्शी नही रहने देता जबकि जाह्नवी का जल बिल्कुल स्वच्छ और पारदर्शी है। जह्नु द्वारा उगली हुई होने के कारण ही उसे जह्नुकन्या जह्नो पुत्री या जाह्नवी कहा जाता है। हो सकता है कि यह रूपक इसलिये जन्मा हो कि हिमालय की कन्दराए एक बार इसके प्रवाह को निगलकर उगल देती है और इसे फिल्टर करके स्वच्छ रूप दे देती हैं। एक दूसरे शिखर से बहने वाली अलकनन्दा की धारा से देव प्रयाग मे मिलकर यह गगा बनती है। वहा से लेकर बगाल तक अनेक नदियाँ इसमे मिलती जाती हैं। यमुना उनमे प्रमुख है जिसमे भी चम्बल और बेतवा आदि अनेक नदिया मिलती हैं। यह यमुना प्रयाग मे आकर गगा से मिलती है। इनके अतिरिक्त घाघरा (जिसे परम्परा सरयू मानती है) गडक, कोसी, गोमती, रामगगा आदि नदिया उत्तर से आकर इसमे मिलती हैं, केन, दामोदर सोन आदि दक्षिण से। बगाल मे यह हुगली कहलाती है और इसकी एक शाखा पद्मा नदी के रूप मे चली जाती है। बाद मे ब्रह्मपुत्र भी इससे मिल जाती है।

गगावतरण की इस कथा ने हजारो वर्षों से इसे पतितपावनी और देवी का रूप दे दिया है। इसकी यह एक विशेषता है कि पुराणो मे इसे ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनो देवताओ की प्रिय नदी बतलाया गया है। वैष्णव यह मानते हैं कि यह विष्णु के चरण धोने वाली है और यह उनके चरणो से ही निकलती है।

तत्र भगवत साक्षाद् यज्ञलिगस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादागुष्ठनख-निर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेण त प्रविष्टा या बाह्यजलधारा" कहकर श्रीमद्भागवत (5-17) इसी को स्पष्ट करता है। विष्णु (सूय) के पद (माग) मे होने के कारण आकाश को विष्णुपद कहा जाता है। उससे निकली होने के कारण इसे शब्दश विष्णु के चरण से निकली माना गया है। वैसे गगोत्री (ग्लेशियर) के ऊपर का एक बडा पवत नारायण पवत कहा जाता है जहा से गगा निकलती है। यही बिन्दुसर या विष्णु सरोवर माना जाता है। इस दृष्टि से भी विष्णु के चरणो

से निकलकर यह शिव के जटाजूट मे गिरती है। अत वैष्णवो और शैवो, दोनों को वह प्रिय है। पुराणों ने इसे ब्रह्मा के कमण्डलु का जल बताया है। 'धातु कमण्डलुजल तदुरुक्रमस्य विष्णो" इत्यादि द्वारा श्रीमद्भागवत ने इसे ब्रह्मा से भी सबद्ध बताया। यह तीनो की प्रिय हो गई। तभी तो इसके किनारे बसे तीर्थ सभी देवताओ के तीर्थ हो गये। हरिद्वार को हरि (विष्णु) द्वार कहकर वैष्णवो ने और हर (शिव) द्वार कहकर शैवों ने महत्त्व दिया।

हमारी सस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास मे गगा का गौरव गुथा हुआ है। भगवान् रामचन्द्र वन मे जाते हुए जब गगा किनारे पहुचते हैं तो सीताजी बडी भक्ति से उसकी पूजा करती हैं। वे स्तुति करती हैं—

त्व हि त्रिपथगा देवि ब्रह्मलोक समक्षसे।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सप्रदृश्यसे॥

वन से लौटने के बाद राम के राज्याभिषेक के अनतर जब सीता गर्भवती होती हैं तो राम उनसे पूछते हैं कि उनकी साध क्या है ? उनकी यही कामना होती है कि मैं गगा के तीर पर बसे तपोवनो को और रमणीय स्थानो को देखू और उनकी सैर करू। दुर्भाग्य यह होता है कि लोकापवाद के कारण राम को उन्हें छोडना भी पडता है तो इसी गगा के किनारे जहा वे लव कुश को जन्म देती हैं। राम सुदूर दक्षिण मे रामेश्वरम् के शिव लिंग की स्थापना करते हैं। इस पर सुदूर उत्तर से आज भी गगोत्री का जल लाकर चढाया जाता है। महाभारत म स्पष्ट घोषित किया है— 'न गगा सदृशम् तीर्थम्" (गगा से बडा कोई तीर्थ नही है)। साकार उपासना पद्धति मे गगा को चार भुजा वाली देवी के रूप मे पूजा जाता है जिसका वाहन सफेद मगर है सिर पर चन्द्रमा है, श्वेत वस्त्र हैं और जो चारो हाथो मे अमृतकलश, कमल, वर और अभयमुद्रा लिये हुए हैं। इस मूर्ति की स्थापना करके देश मे सकडो मन्दिर बनाये जाते रहे हैं। गगोत्री के गगा मन्दिर से लेकर देश विदेशों मे सभी गगा मन्दिरो मे इसी प्रकार की मूर्ति की विधि विधान से पूजा की जाती है।

गगा पर साहित्य

सस्कृत मे हजारो वर्षो से गगा की स्तुति म स्तोत्र लिखे जाते रहे हैं। पुराणो और उपाख्यानो मे विभिन्न देवताओ द्वारा की गई गगा स्तुतियों के अतिरिक्त भक्तो द्वारा प्रात काल प्रतिदिन पढे जाने वाले बहुत से स्तोत्र देश भर मे विख्यात हैं जिनमे वाल्मीकि रचित गगाष्टक और शकराचार्य रचित गगाष्टक, 'काशीपचक' और 'मणिकर्णिकाष्टक' प्रमुख हैं। केरल मे जन्मे शकराचार्य ने काशी मे ही देहपात की कामना की है। महाकवि जयदेव ने गीति शैली में गगा स्तुति लिखी है।

गंगास्तोत्र-शत नामावली में 108 नामों के साथ व गंगासहस्रनामस्तोत्र में एक हजार नामों के साथ गंगा की स्तुति की गई है। सारे देश के और सारी भाषाओं के विद्वानों और कवियों ने इसके वर्णन और स्तोत्र लिखे हैं। कालिदास ने तो गंगा के उद्‌गम से लेकर जहां वह समुद्र में मिलती है वहां तक उसका अनुसरण विभिन्न प्रसंगों में किया है और स्थान स्थान पर उसकी विभिन्न मुद्राओं का वर्णन किया है। हिमालय की शीतल धारा का वर्णन कुमारसंभव में है तो कनखल, हरिद्वार आदि का सदंभ मेघदूत में और प्रयाग के गंगा यमुना संगम का अत्यन्त मनोरम और अद्‌भुत वर्णन रघुवंश में मिलता है। शुभ्रवर्ण गंगा और श्याम वर्ण यमुना के मिलन का यह वर्णन विश्व साहित्य में उत्कृष्ट और सुविदित है। प्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित के वंशज दीक्षित नीलकण्ठ मखीन्द्र ने 'गंगावतरण' महाकाव्य आठ सर्गों में निबद्ध किया है जिसमें भगीरथ की तपस्या और भगवती गंगा के अवतरण का विस्तार से वर्णन है। मैथिल-कोकिल विद्यापति ने गंगा की स्तुति संस्कृत में गंगावाक्यावली द्वारा की और अपनी भाषा (अवहट्ट) में भी अनेक पदों द्वारा उनकी स्तुतियां लिखीं।

गंगा का सर्वोत्कृष्ट स्तोत्र है पीयूष लहरी जो गंगा लहरी के नाम से सारे देश में उसी श्रद्धा से गाया जाता है जिसने इसके रचयिता पंडितराज जगन्नाथ को लगभग 300 वर्ष पूर्व इसकी रचना के लिए प्रेरित किया था। कहते हैं आन्ध्रप्रदेश से आकर दिल्ली में बसे उद्‌भट विद्वान और कवि जगन्नाथ जो जहांगीर और शाहजहां के दरबार में सम्मानित थे दरबार की एक यवन सुंदरी लवंगी के प्रेमपाश में बंध गये। इस कारण तत्कालीन पण्डितों ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया। इतने बड़े विद्वान के लिए इस पाप का प्रायश्चित कौन बतलाता? अन्ततः तत्कालीन विद्वानों ने इसका यही प्रायश्चित बतलाया कि जगन्नाथ यदि गंगा की स्तुति में स्तोत्र लिखें तो उन्हें गंगा ही पवित्र कर सकेगी। इस पर अपनी प्रेयसी सहित वे गंगा के घाट पर बैठ गये जिसमें 52 सीढ़ियां थीं और भावविभोर होकर संस्कृत के शिखरिणी छन्दों में स्तुति गाने लगे। एक एक पद्य सुनकर गंगा की लहरें एक एक सीढ़ी चढ़ने लगीं और पद्य पूरे होते ही उनको और उनकी प्रेयसी दोनों को उसने नहलाकर पवित्र कर दिया। इससे उन्हें वापस सम्मान मिल गया। यह भी कहते हैं कि गंगा दोनों को बहाकर ही ले गई। जो भी हो गंगालहरी तभी से गंगा का भारत विख्यात स्तोत्र बन गया। इस घटना से गंगा का पतितपावनी विरुद चरितार्थ हुआ और संस्कृत साहित्य को एक उत्कृष्ट काव्य भी मिला। आश्चर्य की बात है कि प्रायश्चित्त के रूप में गंगा की स्तुति लिखने की यह परम्परा ठीक इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी पनपी। ब्रज भाषा के प्रसिद्ध कवि पद्माकर की लिखी गंगा-लहरी भी उपलब्ध है। कहते हैं यह भी उसी प्रकार लिखी गई जिस प्रकार जगन्नाथ

ने संस्कृत मे पीयूष लहरी लिखी थी। पद्माकर को भी सुनार जाति की किसी महिला के सम्पर्क के कारण बहिष्कृत कर दिया गया था और गगालहरी लिखकर उन्होने इसका प्रायश्चित्त किया जिससे उन्हे कुष्ठ रोग से मुक्ति मिली। 'उद्धवशतक' के प्रसिद्ध लेखक जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' लिखित गगावतरण काव्य भी ब्रजभाषा मे प्रसिद्ध है। बीकानेर राजवंश के प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज (पीथल) महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के ब्रजभाषा कवि अखिलेश त्रिवेदी (सीतापुर) आदि अनेक कवियो ने गगालहरिया लिखी हैं।

कितने आश्चर्य की बात है कि गगा का स्तोत्र लिखने मे प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान् अब्दुररहीम खानखाना (रहीम के नाम से प्रसिद्ध) ने भी अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। उन्होने संस्कृत मे आठ पद्यो मे गगाष्टक लिखा जो पुरातन ग्रन्थागारो मे उपलब्ध है। इसमे उन्होने गगा की जो भक्ति दिखाई है वह इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि गगा के प्रति श्रद्धा वर्ग-विशेष या धर्म विशेष की सीमा मे बधी नही थी। इस स्तोत्र मे उन्होने गगा से कहा है कि अगले जन्म मे मुझे विष्णु मत बनाना शिव बनाना ताकि मैं तुम्हे सर पर रख सकू। विष्णु के तो तुम पर धोती हो।

"अच्युत चरणतरगिणि शशिशेखरमौलिमालतीमाले।
त्वयि तनुवितरणसमये हरता देया न मे हरिता॥"

स्वय के इसी संस्कृत पद्य के आधार पर रहीम का लिखा यह दोहा प्रसिद्ध है—

"अच्युतचरण तरगिणी शिवसिर मालति माल।
हरि न बनायउ सुरसरी कीजो इदव भाल॥"

वल्लभाचार्य जैसे भक्ति मार्ग के आचार्यों ने भी जो कृष्ण के बाल रूप के और उनकी प्रिया यमुना के उपासक थे, गगा के प्रति अद्भुत श्रद्धा दिखाई है। आन्ध्र मे जन्मे वल्लभाचार्य ने अपना शरीर गगा स्नान करते समय छोडकर देवलोक प्राप्त किया। इस युग की ही बात है। तमिलनाडु को दक्षिण की कृष्णा नदी का जल आन्ध्र से पहुचाने के लिए आन्ध्र व तमिलनाडु सरकारो के परस्पर सहयोग से एक नहर श्रीशैलम् से निकाली जा रही है। गगा से सैकडो मील दूर। पर इसका नाम आन्ध्रप्रदेश सरकार ने रखा है—तेलगु गगा। कृष्णा-कावेरी की भूमि मे गगा का यह प्रेम क्या रोमाचकारी नहीं है? यह इस देश की हजारो वर्ष पुरानी मान्यता है कि गगा मे शरीर का विसर्जन होने से और उसके किनारे या प्रवाह मे मृत्यु होने से तुरन्त मुक्ति मिलती है। यही कारण है कि गगातट के बहुत से निवासी शव का मुह झुलसाकर उसे सीधे गगा मे विसर्जित कर देते हैं और उसकी मुक्ति सुनिश्चित कर लेते हैं क्योंकि सारे शव गगा के माध्यम से समुद्र मे आकर लवण बन जाते हैं

ऐसी मान्यता है। गंगा किनारे बसी काशी को इसीलिए मुक्ति नगरी माना गया है। अनेक वृद्धजन अंतिम समय मे वहा जाकर निवास करते हैं ताकि वहीं मरकर मुक्ति प्राप्त कर सकें। काशी के मणिकर्णिका घाट पर आज तक निरंतर शवदाह होता रहता है। कहते हैं यहा चिताग्नि कभी नहीं बुझती। मुक्ति पाने के लिये गंगा मे आकर शरीर छोडने की यह परम्परा काशी और प्रयाग मे स्पष्ट देखी जा सकती है। 'काशी करवट' प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख सूरदास ने भी "अंखिया हरि दर्शन की प्यासी" पद मे 'लहो करवट काशी' कहकर किया है। प्रयाग मे भी इसी प्रकार शरीर छोडने की प्रथा थी। सुनते हैं प्रसिद्ध विद्वान् कुमारिल भट्ट ने भी इसी प्रकार शरीर छोडा था। प्रयाग के अक्षयवट के पास ऐसे छोडे हुये शरीरो की अस्थियां अकबर को पडी मिली थीं। उसने तब वहा एक किला बना दिया और अक्षयवट को वहा अलग से स्थापित कर दिया ताकि यह प्रथा बंद हो सके।

तीर्थजननी गंगा

तीर्थजननी के रूप मे इसकी भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 10500 फुट ऊंचाई पर बने गंगोत्री मन्दिर से लेकर देव प्रयाग, कर्ण प्रयाग आदि बारह प्रयाग हृषीकेश, हरिद्वार, कनखल, शुकताल गढमुक्तेश्वर (जहां बूढ गंगा का संगम होता है) सोरो, अहार कर्णशिला, बिठूर, श्रृंगवेरपुर प्रयाग, काशी, मुंगेर, पटना बक्सर, अजगेबीनाथ, बटेश्वर (विक्रमशिला) दक्षिणेश्वर बेलूरमठ, गंगासागर तक के तीर्थों को इसी ने महिमा प्रदान की है।

सिंचाई मे और अन्य अनेक प्रकारों से आर्थिक समृद्धि मे इसका योगदान भी इतिहास मे स्मरणीय रहेगा। इससे देशवासियो ने दो विशाल नहरें निकाली हैं जो हरिद्वार से लेकर हजारो एकड के भू भाग को सींचती हैं। अपर गंगा कैनाल (जो 130 वर्ष पूर्व निकाली गई थी) और लोअर गंगा केनाल। यह उत्तर पश्चिमी और मध्यवर्ती भारत के लिये वरदान सिद्ध हुई है। इसके किनारे हजारों वर्षों से इसी की दी हुई आर्थिक समृद्धि पर जीने वाले सैकडो शहर बस गये जिनमें कानपुर और कलकत्ता भी शामिल है। एक नगर, एक तीर्थ और देश की सांस्कृतिक राजधानी, सभी रूपो में काशी की महिमा तो गंगा के कारण ही है। इसे देश का ही नहीं विश्व का सर्वाधिक प्राचीन नगर माना जाता है। गंगा स्नान करने वाले भक्तों की भावना ने हजारो वर्षों से इसके तीर्थों पर बडे बडे लक्खी मेलो की परम्परा प्रारम्भ की। विराट धार्मिक मेलो मे अग्रणी कुम्भ मेले जिन चार तीर्थों पर लगते हैं उनमे प्रयाग और हरिद्वार दो तीर्थ गंगातट के ही हैं, शेष दो हैं उज्जैन और नासिक। गंगा किनारे वाले मेलों मे गढमुक्तेश्वर का मेला मकरसंक्रान्ति पर लगने वाला गंगा सागर का मेला, मौनी अमावस्या पर लगने वाला प्रयाग का मेला माघ मेला, आदि अनेक मेले सुविदित हैं। गंगा में कार्तिक स्नान, माघ स्नान वैशाख

स्नान सभी का महत्त्व है। कोई ऐसा पर्व नहीं जिस पर लोग गंगा स्नान न करने आते हों।

हजारों वर्षों की इस परम्परा ने गंगा को तीर्थ चेतना का मूर्तिमान प्रतीक बना दिया है। जो नगर और गांव इसके किनारे बसे हुए हैं उनके लिये तो यह जीवन प्राण है ही, जो इससे हजारों मील दूर हैं उनके प्राणों में भी इसका प्रेम इतना रचा-बसा है कि जन्म से मरण तक गंगा उनकी सांस सांस में सांस्कृतिक धड़कन के रूप में गूंजती रहती है। सुदूर दक्षिण में पश्चिम में, देश के किसी भी कोने में कहीं भी कोई किसी भी तीर्थ की यात्रा करके आये, उसकी सफलता तब तक नहीं होती जब तक अपने घर वापिस लौट कर वह गंगा का पूजन नहीं कर लेता। यदि उसने गंगा में स्नान किया है तो वह वहां से गंगा जल की शीशी भरकर लाता है, वापस लौटकर उसकी पूजा करता है, गंगाजलिया सबमें बांटता है, तभी उसकी यात्रा पूरी होती है तीर्थचेतना संतुष्ट होती है। इस अवसर पर जो भोजन कराया जाता है उसका नाम ही गंगाभोज पड़ गया है। हरियाणा और राजस्थान के ग्रामीण अंचलों में इसे गंगोज कहा जाता है। ऐसे गंगोज हर गांव में एक महोत्सव के रूप में आज भी देखे जा सकते हैं। कहते हैं ऐसे गंगा भोजों के समय गंगाजली सामने रखकर भक्तिभाव से जब स्तोत्र गाये जाते हैं तो पात्र के बाहर तक गंगा उफन आती है। शायद यह परम्परा पण्डितराज जगन्नाथ की ऊपर उल्लिखित कथा के बाद पनपी हो।

सारे देश में जन्म से मरण तक जीवन के हर सार में गंगा का स्वर बोलता है। बच्चा जन्मता है तो उसकी माता प्रसूति स्नान के बाद गंगा का पूजन करती है जिसे गंगापूजी कहा जाता है। प्रतिदिन स्नान करते समय आस्तिक लोग गंगा का नाम लेकर पवित्रता का अनुभव करते हैं। विवाह के बाद वर वधू चाहे गंगा के किनारे तक यात्रा करके, यह सम्भव न हो तो घर बैठे ही गंगाजली के आगे गंगा का स्मरण करके, गंगा पूजन अवश्य करते हैं। मृत्यु से पूर्व मुख में गंगाजल अवश्य दिया जाता है। देहपात के बाद यदि शव इतनी दूर से ले जाकर गंगा में नहीं बहाया जा सकता तो कम से कम अस्थियां गंगा में विसर्जित की जाती हैं। विश्व में जहां जहां भारतीय हैं, गंगा की गरिमा के सूत्र ने आज भी उन्हें भारत से जोड़ रखा है। मारीशस के भारतमूलक लोग उस सरोवर को 'गंगातालाब' कहकर भारत की छवि उसमें देखते हैं जिसके किनारे शिवमंदिर में महाशिवरात्रि का पूजन वर्ष भर का प्रमुख धार्मिक आयोजन होता है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी वसीयत में गंगा को भारत के समूचे इतिहास की प्रेरणा और संस्कृति का प्रतीक बताया था अपनी देहभस्म का उसमें जा मिलना सौभाग्य माना था। कुछ वर्षों पूर्व तक धर्म और पुण्य की प्रतीक इस गंगा के नाम से अदालतों में शपथ दिलाई जाती थी, गंगाजली पर हाथ रखकर कोई झूठ नहीं बोल सकता था।

भारत के इतिहास में

इतिहासकार बताते हैं कि ईसा से 302 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के समय भारत आये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत इन्द्र आदि देवताओं, स्थानीय देवताओं और गंगा की पूजा भक्ति भाव से करता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि अकाल के समय इन्द्र की, गंगा की, पर्वतों की और महाकच्छ की पूजा जानी चाहिए। यह तो बात हुई हिन्दू राजाओं की। मुस्लिम बादशाहों ने इसके प्रति जो प्रेम दिखाया है वह भी आश्चर्यजनक है। तत्कालीन प्रसिद्ध यात्री इब्न बतूता ने लिखा है कि मोहम्मद तुगलक (1324 से 1351) ने दौलताबाद को अपनी राजधानी बना लिया था जो गंगा से बहुत दूर थी। फिर भी वहां से बादशाह के पीने के लिए गंगाजल लाया जाता था। आईने अकबरी में अबुल फजल ने अकबर की प्रीति गंगा के प्रति स्पष्ट शब्दों में बताई है। अकबर इसे आबे हयात (अमृत) कहता था और पीने के काम में सदा गंगाजल ही लेता था। इसे लाने की व्यवस्था विशेष प्रक्रिया से की जाती थी। जहांगीर भी गंगाजल पीता था। औरंगजेब की यात्राओं के समय उसके शिविर में जो चीजें हमेशा तैयार रहती थीं उनका वर्णन करते हुए फ्रांसीसी चिकित्सक फ्रांसिस बर्नियर ने लिखा है कि वह दिल्ली और आगरा में दो या तीन हजार घुड़सवार, आठ या नौ हाथी, खाने का सामान, गंगाजल तथा कुछ अन्य आवश्यक वस्तुएं सदा साथ रखता था। मुगलकाल में शीशियों में गंगाजल बिकता था और बहुत लोकप्रिय था। स्पष्ट है कि इन बादशाहों और इस्लाम के अनुयायियों की गंगा पर इतनी श्रद्धा इसके जल की कुछ विशेषताओं के कारण थी। जयपुर का राजा माधोसिंह द्वितीय धार्मिक था और गंगा का भक्त था। वह अपने महल में बने गंगामंदिर में प्रतिदिन दर्शन करता था। सन् 1902 में जब वह ब्रिटिश सम्राट एडवर्ड के राज्याभिषेक में लन्दन गया तो चांदी के दो विशालकाय बर्तनों में गंगाजल ले गया। पूरे प्रवासकाल में उसने केवल गंगाजल का ही उपयोग किया।

शुद्ध जल : विज्ञान का साक्ष्य

यह बहुत पुरानी मान्यता है कि गंगा का जल इतना कीटाणुरहित और शुद्ध है कि महीनों तक बल्कि वर्षों तक बर्तन में या शीशी में बंद रखने पर भी इसमें कीटाणु पैदा नहीं होते। वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के द्वारा इस तथ्य को परखने का प्रयत्न भी किया है। लगभग चार सौ वर्ष पूर्व एक ब्रिटिश यात्री निकोलस विटिंगटन ने जो 1612 से 1616 ई. तक भारत में रहा था, लिखा है कि दूर दूर तक लोग बर्तनों में गंगाजल ले जाते थे क्योंकि यह वर्षों तक नहीं सड़ता। यह यह विशेषता उसके हिमालय के कुछ खनिजों और जड़ी-बूटियों से घुलमिल जाने के कारण पैदा हुई है। प्रसिद्ध अमेरिकी हास्य लेखक मार्क ट्वेन ने 1896 ई. में

अपनी यात्रा का विवरण देते हुए एक इंग्लिस्तानी वैज्ञानिक हेनकिन का सदभ दिया है जिसने बनारस से गगाजल का नमूना लिया था। उसमे हैजे के कीटाणु डाले गये कि तु छ घटो मे वे सब कीटाणु मर गये। ऋषिकेश की डिवाईन लाईफ सोसाइटी के स्व स्वामी शिवान द ने अपनी पुस्तक मदर गजेज' मे मेकगिल विश्वविद्यालय के डाक्टर एफ सी हेरीसन और फ्रासीसी डाक्टर सी डी हैरी के हवाले से लिखा है कि उन्होंने परीक्षण करके यह पाया था कि गगाजल मे पेचिश और हेजे के कीटाणु कुछ घटो मे ही मर जाते थे। स्पष्ट है कि ऐसी ही अद्भुत विशेषताओ के कारण यह जल इतना लोकप्रिय हुआ होगा। आज भी अनेक वृद्ध और रोगी गगातीर पर रहकर नियमित गगाजल सेवन औषधि के रूप मे करते हैं। निर तर बहाये जाने शवो के कारण और अ य विविध कारणो से इसके जल म सदियो से निर तर प्रदूषण होता रहा है। बहुत पुरानी धार्मिक मा यता है कि यह सब तरह के प्रदूषण को तुरन्त स्वच्छ कर देने की क्षमता रखता है फिर भी इसकी शुद्धता पर कुछ प्रभाव अवश्य पड सकता है। शायद शवदाह के प्रदूषण आदि के प्रभाव के कारण ही यह पुरानी मा यता थी कि घर तक ले जाने के लिए यात्री लोग गगाजल लक्ष्मण झूला हृषीकेश या हरिद्वार अथवा प्रयाग से ही लेते थे, काशी से नही ले जाते थे। इससे आगे का जल पीने के काम मे तो लिया जाता था घर नही ले जाया जाता था। उस समय तक मानवकृत प्रदूषण के कारण और अब यन्त्रकृत प्रदूषण के कारण विशेषकर इसमे मिलने वाली नदियो द्वारा लाये गये प्रदूषण क कारण जो स्थिति बन गई है उसके लिए भी सरकार द्वारा सुधारात्मक उपाय किये जाने लगे हैं।



वैदिक रुद्र-शकर

भारतीय सस्कृति में त्रिमूर्ति के नाम से जिन 3 देवताओ को समस्त सृष्टि का नियामक बताया गया है, वे हैं ब्रह्मा विष्णु और महेश। विद्वानो का मानना है कि त्रिमूर्ति की यह अवधारणा पुराणकालीन है, वेदो मे ऐसा विभाजन नही मिलता कि ब्रह्मा सृष्टि के उत्पादन करने वाले हैं, विष्णु सृष्टि का सचालन या स्थिति करने वाले हैं तथा शिव सहार करने वाले देवता हैं। उत्पत्ति, स्थिति और सहार के देवो की यह अवधारणा चाहे बाद मे विकसित हुई हो किन्तु वेदो मे हिरण्यगर्भ, विष्णु और रुद्र आदि देवताओ के नाम और स्वरूप अवश्य मिलते है। इनमें रुद्र को उग्र, प्रचण्ड और सहारक देव के रूप मे चित्रित किया गया है। परवर्ती काल में यही रुद्र धीरे धीरे शिव बन जाता है। शम्भु, भव पशुपति और नीललोहित बन जाता है।

शिवोपासना के मूलभूत इ ही वैदिक देवता रुद्र की पूजा, अभिषेक और उपासना का क्रम आज भी पूरे देश मे चल रहा है। शिवलिंग पर घटाभिषेक करते समय या शिवपूजा के अन्य अवसरो पर यजुर्वेद की रुद्राष्टाध्यायी का पाठ आज भी किया जाता है जिसे रुद्री कहते हैं। इसी के मत्रो से शतरुद्रीय यज्ञ भी होते हैं। यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय मे इसी रुद्र का पूरा स्वरूप चित्रित है। इस रुद्र देवता का उल्लेख ऋग्वेद मे भी मिलता है। ऋषि प्रार्थना करते थे कि हे सहार के देवता रुद्र हमारे पितरो, सतानो, सम्बधियो, गायो और अश्वो का वध न करें। (114) लगता है इस सहारक देवता के रुद्र रूप को उपासक ने कल्याणकारी बनाने के लिए ही इसे मृड शिव, शम्भु आदि नामो से शात और हितकारी स्वरूप दे दिया। इसके सकेत यजुर्वेद के रुद्राध्याय मे स्पष्ट मिलते हैं—

या ते रुद्र शिवा तनू शिवा विश्वस्य भेषजी।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे। (त स)
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्त वा शतमया गिरिश ताभिचाकशीहि। (यजुर्वेद)

इससे प्रतीत होता है कि रुद्र के घोर और शिव अर्थात् अघोर दो रूपो की कल्पना की गई और उन्हें सहारक के अतिरिक्त कल्याणकारी रूप मे भी देखा गया। सहार के देवता की छवि देते हुए इन्हें क्रोधी तथा अतरिक्ष से बाण फेंककर

पृथ्वी को विदीर्ण करने वाले देवता के रूप मे ऋग्वेद मे चित्रित किया गया है। जहा तक इसके यज्ञानिक पक्ष का प्रश्न है यजुर्वेद म अग्नि को रुद्र कहा गया है। इसी का आधार लेकर बाद मे 11 रुद्रो की अवधारणा विकसित हुई। इन 11 रुद्रो की विज्ञानवादी विद्वान् अग्नि के 11 स्वरूपो या स्थितियो के रूप म व्याख्या करते हैं जो अन्तरिक्ष म स्थित हैं और विभिन्न स्तरों पर ऊर्जा की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार वदिक देवशास्त्र का रुद्र वज्ञानिक धरातल पर 11 अग्नियो का प्रतीक भी बन जाता है 'अग्निर्वै रुद्र"। अथर्ववेद मे रुद्र के 7 नाम प्राप्त होते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि इस वदिक देवता की लोकप्रियता निरन्तर बढती गई थी, जिसके फलस्वरूप वदिक ऋषि उसे विविध प्रकार की भूमिकाए देने म रुचि लेता गया था। अथर्ववेद मे उल्लिखित ये 7 नाम हैं—

ईशान अर्थात् शक्तिमान् भव अर्थात् राजा शव अर्थात् भूतपति, पशुपति अर्थात् जीवो का रक्षक, उग्र अर्थात् भयकर रुद्र अर्थात् नियामक, महादेव अर्थात् उत्कृष्ट देवता।

इस प्रकार वेदकालीन रुद्र को विभिन्न रूपो और भूमिकाओ के माध्यम से पिछले 4-5 हजार वर्षों मे भाति-भाति से देखा और पूजा जाता रहा है। यह स्वाभाविक ही था कि ब्राह्मण ग्रथो और उपनिषदो मे उसी वैदिक अवधारणा को लेकर अनेक कथाए और उपासना पद्धतिया विकसित कर ली गई। शतपथ ब्राह्मण ने रुद्र को उषा के पुत्र के रूप मे देखते हुए उसके अनेक प्रतीकात्मक वज्ञानिक निवचन दिये। अग्नि की भूमिका का निवहन करने वाला यह रुद्र अशनि अर्थात् वज्र से जगत का सहार भी करता है और पशुपति तथा महादेव बनकर प्रतिपालन भी। यही से पशुपति की भूमिका के सन्दभ मे इनका रूप मृगव्याध का भी चित्रित किया गया है जिसके साथ यह कथा जुड गई कि प्रजापति जब हिरनी बनी अपनी ही पुत्री के पीछे हिरण का रूप धरकर भागे तो रुद्र ने व्याध का रूप धरकर बाण से उनका वध कर दिया। यह वस्तुत खगोल विज्ञान का एक प्रतीक है जिसम मृगशिरा आदि क्षेत्रो की खगोलीय स्थिति सूचित है। रोहिणी नक्षत्र के तारे लाल रग की हिरणी जसे लगते हैं और उसके पीछे मृगशिरा नक्षत्र के तारे बिल्कुल इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत करते हैं जसे सिर कटा हुआ हिरण हो। इसके पीछे 3 तारे हैं जिन्हे रुद्र के तीन बाणो का रूपक दिया गया है। इनके चलाने वाले रुद्र के तारे जिन्हे मृगव्याध या लुब्धक तारा भी कहते हैं नील लोहित अर्थात नीले और लाल रग के ठीक इन बाणो के पीछे दिखाई देते ह जिससे यह कल्पना की गई है कि नील लोहित शिव ने तीन बाणो से मृगरूपी प्रजापति का सिर काट दिया था। यह रूपक जिस खगोलीय स्थिति पर आधारित है उसी के आधार पर बाद मे पुराणो ने अन्य कथाए भी विकसित की। सभवत इन्ही मे से एक कथा है शिव के द्वारा त्रिपुरदाह की। शिव ने 3 बाणो से दैत्यो के 3 नगरो को नष्ट कर दिया

था। यह किसी प्रागैतिहासिक घटना का स्मारक भी है और रुद्र के प्राचीन स्वरूप का प्रतीक भी। यही कारण है कि यजुर्वेद का रुद्राध्याय शिव के सन्दर्भ में जिन विशिष्ट वस्तुओं का उल्लेख करता है उनमें शिव का मन्यु अर्थात् क्रोध, इषु, अर्थात् बाण और बाहु प्रमुख है। नमस्ते रुद्र मन्यवे उतोत इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः।

वेदकालीन इस देवता रुद्र के लिए ऋग्वेद में यद्यपि केवल 3 सूक्त ही हैं किन्तु यजुर्वेद में अनेक अध्याय हैं। रुद्र के वैदिक स्वरूप की अधिकांश परम्पराएं आज तक चली आ रही हैं किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जो परवर्ती काल में पूर्णतः रूपान्तरित हो गईं। वैदिक रुद्र पिनाक नामक धनुष धारण करते हैं और बड़ी जटाएं रखते हैं। उन्हें कपर्दी कहा गया है। वे चर्म धारण करते हैं उन्हें कृत्तिवासा कहा गया है। कहीं-कहीं देवी अम्बिका को उनकी बहन बताया गया है। इस वेदकालीन अवधारणा में से शिव का पिनाकी रूप अर्थात् पिनाक धनुषधारी रूप बाद में कुछ बदल गया किन्तु जटाधारी और चर्मधारी स्वरूप अब तक बना हुआ है। उसके साथ यह और हुआ कि यह चर्म गज चर्म के रूप में बदल गया जो शिव का परिधान माना जाता है। अम्बिका जो वेदकालीन उल्लेख में उनकी बहन बताई गई है बाद में जाकर उनकी पत्नी के रूप में पुराणों में उल्लिखित है। यह परिवर्तन पुराणों ने अवश्य और किया कि वेदकालीन धनुर्धर और बाण विद्या कुशल शिव का धनुष धीरे धीरे गायब होता गया और उसका स्थान त्रिशूल ने ले लिया किन्तु यह त्रिशूल वेदकालीन तीन बाणों का ही अवशेष है, यह आसानी से समझा जा सकता है। वेद में रुद्र को गिरिश या गिरीश कहा गया है जिसका तात्पर्य है पहाड़ पर सोने वाला या पहाड़ का स्वामी। वहां इन्हें उत्तर दिशा के मूजवान पर्वत का वासी बताया गया है। यह पर्वत हिमालयीय पर्वत शृंखला का ही शैल है। यही कारण है कि पुराणों में भी इन्हें कैलाशवासी अर्थात् हिमालय में रहने वाला देवता चित्रित किया गया है। यहां तक यह वेदकालीन परम्परा का ही भाग है किन्तु बाद में पुराणों ने इसमें यह और जोड़ दिया कि हिमालय की पुत्री पार्वती के पति होने के कारण शिव हिमालय में निवास करने लगे आदि।

उपनिषदों में वेदकालीन रुद्र की अवधारणा कुछ परिवर्तित होकर अधिक विस्तार पाती प्रतीत होती है। यही कारण है कि श्वेताश्वतर उपनिषद में शिव का दार्शनिक, रहस्यात्मक तथा पंथनिरपेक्ष और भक्ति प्रवर्तक रूप विस्तार से वर्णित है। इस उपनिषद को शिवपरक माना जाता है। लगता है वेदकालीन रुद्र का दार्शनिक चिन्तन में ढालने की इस प्रवृत्ति ने शिवोपासना को एक नया मोड़ दिया और उपनिषदकाल के बाद शिव की अवधारणा इतने विस्तार से विभिन्न शाखाओं में विकसित होने लगी कि पुराणों ने उमापति महादेव के रूप में इनकी

अनेक कथाएं प्रसारित कीं तथा शिवलिंग की उपासना के अनेक सम्प्रदाय विकसित हो गये। गृह्यसूत्रों में कहीं रुद्र के 12 नामों से आहुति देने का विधान है और कहीं उसके 8 नाम बताये गये हैं। पुराणकालीन शिवकथाएं इतनी विविधरूपा हो गई कि इनके संकलन के लिए अनेक पुराण उपलब्ध होते हैं। वायुपुराण शिवपुराण आदि में भांति-भांति की कथाएं शिव के जीवन के सम्बन्ध में मिलती है। उपासना पद्धतियों की दृष्टि से भी पाशुपत, वीरशैव आदि अनेक सम्प्रदाय पाये जाते हैं किन्तु इन सब के मूल में वही वदिक देवता रुद्र हैं जिसका उल्लेख सर्वप्रथम धनुर्धर और शस्त्रकुशल उग्र देवता के रूप में ऋग्वेद में मिलता है और जिनके लिए यजुर्वेद में रुद्राध्याय पाये जाते हैं।



देश की रग-रग में व्याप्त-महादेव

इस देश के कोने-कोने में दूर दूर तक जिन देवताओं की छवि पूजी जाती है विदेशों तक जिनकी पूजा का क्षेत्र फैला हुआ है, उनमें अग्रणी हैं शिव और विष्णु। देश का कोई शहर या गांव नहीं होगा जहां कोई शिव मन्दिर न हो अथवा विष्णु का, राम का या कृष्ण का कोई मन्दिर न हो। जयपुर में तो गली गली और मोहल्ले मोहल्ले में कोई न कोई शिव मन्दिर मिल जाएगा। देशवासियों के जन्म मृत्यु, जीवन के हर पल के साथ इन देवताओं का जुड़ाव हो गया है। महादेव शिव ने देश को जिस तरह जोड़ा है वह भी उनकी अद्भुत रूप से वन्दनीय महिमा है। शिव की पूजा दो प्रकार से की जाती है, अव्यक्त स्वरूप की पूजा (शिव लिंग के रूप में) और व्यक्त प्रतिमा या स्वरूप की पूजा (पंचमुखी देवता के रूप में या पार्वती के साथ युग्मपूजा अथवा अर्द्धनारीश्वर की पूजा)। इसमें शिव लिंग की पूजा इस देश में ही नहीं विश्व भर में इतनी व्याप्त हो गई है कि उसकी विवेचना में विद्वानों ने पोथियां लिख डाली हैं।

विश्व में व्यापक

शोध विद्वानों के एक बहुत बड़े तबके ने यह स्थापित किया है कि मूलतः शिव अनार्य देवता थे। कुछ इन्हें मूलतः द्रविड़ संस्कृति के देव मानते हैं और कुछ इनकी अव्यक्त पूजा को विश्व में व्याप्त लिंग पूजा का भारतीय रूप बताते हैं। भारतीय मनीषियों ने स्पष्ट किया है कि यह सब पाश्चात्य शोध प्रक्रिया का करिश्मा है जो अन्य देशों में प्रचलित प्रथाओं की तुलना करता-करता हमारी प्राचीनतम परम्पराओं पर भी उनका आरोपण कर देता है। हो सकता है विभिन्न प्राचीन संस्कृतियों की इन परम्पराओं में कुछ साम्य हो किन्तु मूलतः रुद्र वैदिक देवता थे जिनका संहार व प्रलय के उग्र देवता के रूप में वर्णन ऋग्वेद ने तथा जिनके रौद्र और शिव रूपों का वर्णन यजुर्वेद ने किया है और श्वेताश्वतर जैसे उपनिषदों ने जिनकी स्तुति गाई है। प्रलय का यह देवता धीरे धीरे सृष्टि का देवता बना, मृत्यु का देवता जीवनदायी बना और महाकाल सौभाग्यदायक मृड बना। किन्तु मूलतः वह यहीं का था। यह अवश्य है कि सिन्धु सभ्यता में भी पशुपति के रूप में महादेव मौजूद हैं और वृषभ उनका प्रतीक है। यह भी एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि जिस

प्रकार हमारे यहां शिव लिंग पूजा चलती रही है उसी प्रकार अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी लिंग पूजा किसी न किसी रूप में रही है। तभी तो कुछ विद्वान 'फलस वरशिप' को इसके साथ जोड़ देते हैं। सृष्टि के देवता की पूजा के रूप में लिंग पूजा मिस्र में भी थी, ग्रीस में भी और रोम में भी। मिस्र के ओसायरिस देव का रूप बिलकुल वैसा ही है उसकी आकृति शूलपाणि और सर्पाभूषणधारी देवता की है जिसका प्रतीक वृष है। उसकी प्रतीक पूजा भी की जाती है। रोमन संस्कृति का देवता प्रायपस भी सृष्टि का देव है जो पुरुष रूप में पूजा जाता है। प्रा० रामदास गौड़ जैसे भारतीय विद्वानों ने तो यह सिद्ध किया था कि अरब में पहले शिवलिंगों की पूजा का बहुत प्रचलन था और मूर्ति पूजा समाप्त कर मोहम्मद साहब ने जब इस्लाम की स्थापना की तो उनमें से पूजा के एक काले पत्थर (शिव लिंग) को मक्का में काबा के अन्दर स्थापित किया जिसे असलहजर अल असवद कहते हैं और आज भी हज के यात्री जिसे चूमते हैं। इन्होंने तो इन्हें मक्केश्वर महादेव के नाम से पुकारा है। जो भी हो इस देश के बाहर भी महादेव ने अपना साम्राज्य स्थापित किया है यह तो स्पष्ट ही है। सारा नेपाल पशुपति नाथ के आगे शीश झुकाता है। जिस प्रकार मेवाड़ के महाराणाओं के उपास्य एकलिंग जी हैं उसी प्रकार नेपाल नरेशों के उपास्य पशुपति नाथ हैं।

भारतीय परम्परा

अन्य प्राचीन संस्कृतियों में लिंग पूजा की जो परम्परा रही उसने भारत पर प्रभाव डाला हो या भारत की शिव पूजा बाहर गई हो, इन सम्भावनाओं पर न झगड़ कर भारतीय परम्परा को देखें तो लगता है कि वेदों के समय जिस रुद्र को एक अदृष्ट महातत्व के रूप में देखा जाता था, पुराणों ने उसकी विविध पुराकथाएं अद्भुत चमत्कारों के साथ प्रसारित की और अव्यक्त पूजा के रूप में शिव लिंगों की पूजा की परम्परा भी शुरू की। हमारे यहां यह शिवलिंग पूजा पुरुष चिह्न की पूजा के रूप में नहीं बताई गई है बल्कि अग्नि के ऊर्ध्वगामी स्वरूप की पूजा बताई गई है। तभी तो इन्हें ज्योतिर्लिंग नाम दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है 'अग्निर्वा रुद्र।' इस अग्नि रूप रुद्र को शिव लिंग के रूप में देखा गया है। वायु पुराण, शिव पुराण व लिंग पुराण में इसका रहस्य वर्णित किया गया है। स्कन्द पुराण में बताया गया है कि प्रलयकाल में जब ब्रह्मा और विष्णु अपने बड़प्पन के लिए झगड़ रहे थे तो एक विराट् अग्नि स्तम्भ प्रकट हुआ जिसका ऊपर और नीचे का छोर अज्ञात था। विष्णु ने ब्रह्मा से कहा—जो इसका ओर छोर पा लेगा, विजयी होगा। तुम इसके ऊपर का छोर खोजो, हम नीचे का तलाशते हैं। विष्णु वाराह बनकर खोजने लगे और ब्रह्मा हंस बनकर उड़े। एक हजार वर्ष की निरन्तर उड़ान के बाद भी उस अग्नि लिंग का ओर छोर पता नहीं लगा। ब्रह्मा ने उड़ते हुए केतकी के (केवड़े के) एक पत्ते को गिरते हुए देखा

और उससे पूछा कि इस ज्योतिर्लिंग का सिर कहा है। केतकी पत्र ने बताया कि मैं वहीं से गिरा हू। दस कल्प पहले वहा से गिरा था अब तक आधा भी नही पहुच पाया हू। इस अनन्त यात्रा से घबराकर ब्रह्मा ने कहा कि नीचे विष्णु इसकी जड तलाश रहे हैं, वे मिलें तो कह देना कि ब्रह्मा इसके ऊपर के सिरे तक पहुच गये हैं, फिर ब्रह्मा ने घोषणा कर दी कि उन्होंने ऊपरी सिरा देख लिया है। इस सफेद झूठ को ब्रह्मा के डर से केतकी ने भी कह दिया। विष्णु ने विश्वास नही किया। उन्होंने तपस्या करके शिव को प्रसन्न किया और पूछा कि क्या यह सच है। शिव ने प्रकट होकर बताया कि यह मेरा ही ज्योतिर्लिंग है। इसका अन्त कोई नही पा सकता। इस पर झूठी गवाही के आरोप मे केतकी को शाप दिया गया कि शिव पर नही चढ़ाई जाएगी। आज तक केवडा शिव पर नहीं चढ़ता है।

ज्योतिर्लिंग के उद्भव की इस कथा से महादेव के इस ज्योतिमय विराट् रूप की अनन्तता भी सकेतित है और ब्रह्मा विष्णु महेश की त्रिमूर्ति मे शिव की प्रमुखता भी। त्रिमूर्ति की यह अवधारणा भी इस देश की अद्भुत सकल्पना है जिसके विवेचन का यहा अवकाश नही। हमारी यह अद्भुत परम्परा रही है कि तीनो देवताओ ने एक दूसरे का सम्मान किया है, कभी शिव ने विष्णु की महिमा गाई है तो विष्णु ने शिव की पूजा की है। वसे कुछ विद्वानो की यह मान्यता भी है कि त्रिमूर्ति की यह अवधारणा द्रविड सभ्यता की देन है। अस्तु।

द्वादश ज्योतिर्लिंग

पुराणों के समय से ही शिव की अव्यक्त पूजा (शिव लिंग पूजा) की महिमा गाई जाने लगी और शिव पूजा के अनेक सम्प्रदाय और स्तोत्र प्रकट हुए। इन सब मे शिव लिंग की पूजा के भाति-भाति के विधान बताए गये और अनेक तन्त्र भी विकसित हुए। शिव पूजा का यह विशाल साम्राज्य पूरे देश की रग रग मे बस गया। जहा एक ओर हिमालय को शिव का ससुराल बताया गया वहा दूसरी ओर रावण की लका के उपास्य और अधिपति के रूप मे शिव की महिमा दक्षिण तक फल गई। रामायण ने बताया कि रावण महान् शिव भक्त था और प्रतिदिन एक विशाल स्वर्णमय शिव लिंग की पूजा करता था। वह जहा जाता था वह विशाल स्वर्णिम शिव लिंग उसके साथ चलता था। पूरी भारतीय सस्कृति को और देश के कोने को अपनी महिमा के एकसूत्र मे पिरोकर शिव ने किस प्रकार एक कर दिया इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है देश भर मे फैले बारह ज्योतिर्लिंगो की पूजा की परम्परा। वसे तो इन 12 प्रमुख शिव तीर्थों के अतिरिक्त भी बहुत से महत्त्वपूर्ण शिव मन्दिर हैं जसे अमरनाथ का बर्फ का शिव लिंग और भुवनेश्वर का प्रसिद्ध लिंगराज मन्दिर का ग्रेनाइट का विशाल शिव लिंग। किन्तु इन 12 की उत्कृष्ट महिमा बताकर इन्हें सर्वोत्तम तीर्थ का दर्जा दिया गया। उल्लेखनीय है कि ये तीर्थ

देश के सभी कोनों मे फैले हुए हैं। तभी तो कुछ लोगो की यह धारणा है कि इन्हें भी शंकराचार्य ने स्थापित किया होगा। आश्चर्य की बात यह है कि रोमन सभ्यता के देवता प्रायेपस की पुराकथा भी ठीक इसी प्रकार है कि उनके शरीर के शत्रुओं ने टुकड़े टुकड़े कर डाले थे किन्तु बाद मे उनकी पत्नी आइसिस और पुत्र हेरोडोटस ने एक एक टुकडे को सारे देश के विभिन्न भागो मे स्थापित कर दिया और उनकी पूजा देशवासियो द्वारा की जाने लगी।

पुराण काल से ही इन द्वादश ज्योतिर्लिंगो की तीर्थ यात्रा का महत्त्व और इनकी अद्भुत महिमा बताई जाती रही है। सदियो की लम्बी यात्रा के कारण यह अवश्य हुआ कि विभिन्न स्थानो के विद्वानो ने यह दावा किया है कि अमुक ज्योतिर्लिंग हमारे यहा स्थापित है। यही कारण है कि कुछ ज्योतिर्लिंग के बारे म विभिन्न मत मिलते हैं। शिव पुराण म 12 ज्योतिर्लिंगो का जो विवरण है उसमें सर्वप्रथम सोमनाथ मन्दिर बताया गया है और घुश्मेश्वर को अन्तिम। इनमे काशी विश्वनाथ का स्थान सातवा है पर कुछ विद्वानो ने पाठान्तर बताकर यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया कि सर्वप्रथम ज्योतिर्लिंग काशी विश्वनाथ ही हैं। सौराष्ट्र के सोमनाथ को प्रथम ज्योतिर्लिंग माना गया है जिसका सुदीर्घ इतिहास सुविदित है। यही वह समृद्ध मन्दिर था जिसके विशाल सुवर्ण भण्डार और रत्न जटित मन्दिर का विध्वंस मूर्तिभंजक महमूद गजनवी ने किया था जिसके बाद अनेक राजाओं ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और मूर्ति की पुन प्रतिष्ठा की गई। पश्चिम समुद्र तट पर सोमनाथ का यह मन्दिर आज भी यात्रियो का प्रमुख आकर्षण है।

आन्ध्र मे कृष्णा नदी के तट पर मल्लिकार्जुन नाम का दूसरा ज्योतिर्लिंग है जो श्रीशैल पर स्थित है। यह श्रीशैल विकट ऊचाई पर है और इस पर अनेक मन्दिर हैं। अगले दो ज्योतिर्लिंग नर्मदा क्षेत्र मे हैं। तीसरा ज्योतिर्लिंग उज्जैन के महाकालेश्वर का है जिसका इतिहास विक्रमादित्य और कालिदास जैसे परम्परा पुरुषो से जुडा हुआ है। यही से कुछ दूर नर्मदा तट पर ओंकारेश्वर नाम का चौथा ज्योतिर्लिंग है। हिमालय पर उत्तुंग गिरिशृंग पर केदारनाथ का मन्दिर है जो पाचवा ज्योतिर्लिंग है। यह भी इस देश की शिव और विष्णु के समन्वय मे निष्ठा का प्रमाण है कि जो विष्णु के मन्दिर बद्रीनाथ को जाता है वह शिव के मन्दिर केदारनाथ मे भी अवश्य जाएगा।

छठा ज्योतिर्लिंग भीमशंकर का है जिसे डाकिनी ग्राम मे स्थित बताया गया है। यह डाकिनी कहा है इस बारे म तीन मत हैं। महाराष्ट्र मे पूना के पास भीमशंकर का प्रसिद्ध मन्दिर है जिसे अधिकांश छठा तीर्थ मानते हैं किन्तु कुछ लोग गौहाटी के पास आसाम म भीमशंकर ज्योतिर्लिंग का दावा करते हैं और कुछ उत्तर प्रदेश म नैनीताल के पास बने भीमशंकर मन्दिर को छठा तीर्थ मानते हैं। काशी

विश्वेश्वर को सातवां ज्योतिर्लिंग माना जाता है। इनकी महिमा सुविदित है जिनकी पूजा शंकराचार्य ने भी की थी और जिनके मंदिर को महाराजा रणजीतसिंह ने सोने से मढ़ाया था। महाराष्ट्र में नासिक के पास त्रियम्बकेश्वर का ज्योतिर्लिंग है जो आठवां है। यह गोदावरी के तट पर स्थित है। नवां ज्योतिर्लिंग वैद्यनाथ का है जिसे रावण का उपास्य माना जाता है। इसकी यह कथा प्रसिद्ध है कि रावण हिमालय पर तपस्या द्वारा शिवजी से वर लेकर लंका में स्थापित करने हेतु इस शिवलिंग का वहन कर रहा था और शर्त यह थी कि इसे वह पृथ्वी पर नहीं रखेगा। चिताभूमि में आकर रावण को लघुशंका करने की आवश्यकता हुई और वह इसे एक अहीर को थमाकर थोड़ी देर के लिए चला गया। अहीर ने गलती से उसे पृथ्वी पर रख दिया जिसके फलस्वरूप यह शिव लिंग वहीं अचल हो गया और वहीं वैद्यनाथ नाम से इसकी पूजा की जाने लगी। यह चिताभूमि कौन सी है इस पर भी कहीं कहीं मतभेद पाया जाता है। अधिकांश मतों में तो यह बिहार के संथाल परगना में स्थित प्रसिद्ध वैद्यनाथ धाम का ही अभिधान है किन्तु कुछ लोग महाराष्ट्र राज्य में स्थित परडडी या परली के एक वैद्यनाथ मंदिर को नवां ज्योतिर्लिंग बताते हैं। इसी प्रकार दसवां ज्योतिर्लिंग शिव पुराण में दारुकावन में स्थित बताया गया है। यह दारुकावन आंध्र में स्थित है जहां नागेश का मंदिर है किन्तु कुछ लोग अलमोड़ा के पास स्थित नागेश मंदिर को दसवां ज्योतिर्लिंग बताते हैं। कुछ दारुकावन का द्वारका मानकर द्वारिका में स्थित नागेश मंदिर को यह दर्जा देते हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार के मत मतांतर प्राचीन धर्मों में निकलते जाना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और श्रद्धा के आधिक्य के कारण उस तीर्थ को अपनी भूमि से जोड़न के ललक का ही एक उदाहरण है। यह भी स्पष्ट है कि ऊपर उल्लिखित मतों में प्रथम मत (बहुमत) ही देश में प्राय सर्वमान्य है। अन्य मतों के उल्लेख जानकारी की दृष्टि से ही किये गये हैं। 11वां ज्योतिर्लिंग सेतुबन्ध रामेश्वर का है जिसकी स्थापना भगवान रामचन्द्र ने की थी। तमिलनाडु में समुद्र तट पर स्थित यह तीर्थ विश्व प्रसिद्ध है और इसका शिवलिंग भी स्फटिकमणि का है। जिस प्रकार देश के पश्चिम तट को सोमनाथ की छाया उपलब्ध है उसी प्रकार दक्षिण तट रामेश्वर की छत्रछाया में और पूर्व भाग वैद्यनाथ की छत्रछाया में है जबकि उत्तर में हिमशिखरों में केदारनाथ को रखा है। इस प्रकार देश के चारों कोनों में फैली हुई यह शिव महिमा देश की एकता का अद्भुत सूत्र है। 12वां ज्योतिर्लिंग घुश्मेश्वर है जो शिवालय नामक स्थल पर स्थापित बताया गया है। यह एलोरा की गुफाओं के पास है जो वर्तमान में महाराष्ट्र राज्य में है। हाल ही में राजस्थान ने भी एक ज्योतिर्लिंग अपने यहां होने का दावा किया है। कुछ लोगों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि राजस्थान के सवाई माधोपुर जिले के कस्बे सिवाड का नाम शिवालय का ही अपभ्रंश है। वहां स्थित एक

शिव मन्दिर को घुश्मेश्वर का मन्दिर भी बता दिया गया है। यह भी राजस्थान के शिव भक्तों की इस ललक का प्रतीक है कि राजस्थान को क्यों न किसी ज्योतिर्लिंग से जोड़ा गया। वैसे घुश्मेश्वर नाम उनकी भक्त महिला घुश्मा के नाम पर पड़ा है।

शिव पूजा का यह व्यापक क्षेत्र देश-विदेशों के विभिन्न युगों के इतिहास को भी अनेक छोरों को छूता है। इस प्रकार महाकाल देश और काल दोनों में व्याप्त हैं फिर भी दोनों से परे हैं—त्रिकालातीत हैं। महाशिवरात्रि उस महाकाल के स्मरण का ही एक दिन है। हरिद्वार स्वयं शिव और विष्णु दोनों के सान्निध्य द्वारा पावित तीर्थ है। इसे हरि (विष्णु) द्वार कहकर विष्णु के साथ जोड़ा जाता है और हर (शिव) द्वार कहकर शिव के साथ। दोनों ही हमारे आराध्य हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे पतित पावनी गंगा भी दोनों ही से जुड़ी हुई है।



लक्ष्मी वदलते रूप–उभरते आयाम

जसे जसे उपभोक्ता सस्कृति पनपती है, धन का महत्त्व बढता जाता है। धन की पूजा धन कुबेरों की पूजा और धन के देवताओ की पूजा भी इसीका सीधा परिणाम होता है। आज के युग मे धन का महत्त्व जितना बढ़ा है उतना ही धन के देवताओ की पूजा का भी। जो धन के देवता नही हैं उन्ह भी अपनी पूजा कराने के लिये धन का सहारा लेना पडता है। यदि किसी भी नय देवता की प्रतिष्ठा करके यह प्रचारित कर दिया जाये कि उसकी पूजा से अपार धन की प्राप्ति होती है तो इसका क्या असर होगा आप अनुमान कर सकते हैं। कौन होगा जो उसकी पूजा नही करना चाहेगा? सुनते हैं, कुछ देवस्थाना की सेवा पूजा में तबसे अभूतपूव बढ़ोतरी हो गई जब यह प्रचारित किया गया कि उस देवस्थान में जितनी भेंट चढ़ाई जायेगी उससे दुगुना धन भेंट चढ़ाने वाले को प्राप्त हो जायेगा। कहते हैं, तिरुपति और नाथद्वारा के मदिरो मे अपार भेंट आने का यही रहस्य है। रहस्य क्या है यह तो वही देवता जानें, किन्तु इस युग मे लक्ष्मी की पूजा का जो नया स्वरूप विकसित हुआ है वह इस दृष्टि से अपने आप म इतिहास का आइना है कि इस देश मे उपभोक्ता सस्कृति ने लक्ष्मी की पूजा और लक्ष्मी के स्वरूप की अवधारणा को किस प्रकार परिवर्तित किया है। लक्ष्मी को जो मूलत धन की देवी नही थी धीरे धीरे धन की देवी का रूप किस प्रकार दे दिया गया यह दिलचस्प अध्ययन का विषय है। इस देवी की अवधारणा का इतिहास जितना बहु-आयामी है उतना ही व्यापक भी।

कहने को तो तथाकथित ऋग्वेद परिशिष्ट का एक स्तोत्र 'श्रीसूक्त' लक्ष्मी का देवी के रूप मे वेदकालीन स्तोत्र बताया जाता है पर ऋग्वेद की सहिता मे यह कही नही मिलता। कुछ लोग इसे अथवलक्ष्मी सूक्त बताते हैं पर यह अथववेद मे भी नही है। इसे कब किसने, कहाँ लिखा और किस वेद मे जोड दिया कोई नही जानता। विद्वाना का मानना है कि यह वेदकाल की रचना न होकर परवर्ती है। सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख लक्ष्मी के बारे में जहाँ जहाँ वेदो मे बताया जाता है वहाँ लक्ष्मी को धन की देवी के रूप मे नही बल्कि सौदय और शारीरिक शक्ति आदि के रूप में देखा गया है। श्री को भी कही सम्पत्ति और कही शोभा के अथ मे उल्लिखित किया गया है। उन दिनों धन का इतना महत्त्व वसे भी इस देश मे कभी नही रहा कि उसे देवता मानकर पूजा जाता।

इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन काल में धन का महत्व या भौतिक समृद्धि की उपेक्षा रही थी। उस समय भी द्रविण और 'कांचन' का महत्व था, तभी तो व्यंग्य से कभी कभी यहाँ तक कह दिया जाता था कि 'सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति'। किन्तु एक तो उसे ही मानव का चरम प्राप्तव्य कभी नहीं माना गया। दूसरे, धन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं व गुणों का महत्व इस तरह तिरोहित कभी नहीं हुआ जितना आज है। धन का यदि महत्व रहा तो उससे अधिक त्याग का, मनुष्य के मानवीय गुणों का महत्व माना गया। किसी धनाधीश को आज तक याद नहीं किया जाता, निर्धन महर्षियों को आज भी पूजा जाता है। यह अवश्य है कि जीवन का स्वस्थ उपभोग करना यहाँ हमेशा बहुत अच्छा माना जाता रहा। यक्ष संस्कृति को जीवन के स्वस्थ उपभोग की तथा भौतिक सुखों से भरपूर जीवन की संस्कृति माना जाता है। यह संस्कृति इसी देश में, हिमालय के आस पास उत्तरी छोर में बहुत पनपी थी। इस संस्कृति के एक पात्र थे कुबेर जो देवताओं के धनाध्यक्ष माने गये थे। यक्ष संस्कृति की सिरी देवी के साथ कुबेर की युग्म पूजा की जाती थी। इस कुबेर को पौराणिक युग में दिक्पाल मानकर आर्य संस्कृति ने अपनाया पर देवता मानकर उसे आहुति नहीं दी, न उसके मन्दिर बनाये। पुराणों ने उसे काना, कुरूप और कुबड़ा चित्रित किया। धन का बोझ ढोते ढोते व्यक्ति कुबड़ा हो ही जाता है। वैसे भी यक्ष संस्कृति की उपादेयता धन के कारण नहीं थी, जीवन के उपभोग के आदर्श के कारण थी। संगीत, नृत्य आनन्द और उल्लास यक्षों से सारे देश ने सीखे। किन्तु हुआ यह कि जब जब धन का और जीवन के भौतिक पक्ष का महत्व बढ़ने लगा, यहाँ के ऋषियों ने यह चेतावनी देना आवश्यक समझा कि भौतिक जगत् ही सत्य नहीं है, सत्य इससे परे है। उपनिषदों में इस बात की खोज हुई कि भौतिक समृद्धि से परे वास्तविक सत्य चरम सत्य क्या है? केनोपनिषद् में इसी की एक प्रतीक कथा दी गयी है। भौतिक ऐश्वर्य बल और शक्ति एवं सौन्दर्य से परे भी एक चरम सत्य है यह बतलाने के के लिये यह जिज्ञासा की गई कि यक्ष संस्कृति क्या है? लौकिक बल और सौन्दर्य क्या सब कुछ कर सकते हैं? इसका उत्तर देने के लिये एक महायक्ष ने प्रकट होकर एक तिनका धरती पर फेंका। उसे प्रयत्न करने पर भी अग्नि नहीं जला सकी, वायु नहीं उड़ा सका। इन्द्र का ऐश्वर्य व्यर्थ सिद्ध हुआ। महायक्ष इस रहस्य को सुलझाने के पूर्व ही अदृश्य हो गया। तब महायक्ष की शक्ति शोभा और सौन्दर्य की प्रतीक हैमवती उमा प्रकट हुई और उन्होंने बताया कि ऊर्जा बल, ऐश्वर्य और सौन्दर्य ये सब अन्तिम सत्य नहीं हैं यक्ष बल और शक्ति किसी और की देन है। ये सभी किसी अन्य शक्ति के बल पर जन्मते हैं और नष्ट हो जाते हैं।

केनोपनिषद् में हैमवती (हिमालय पुत्री) उमा (पार्वती) को महायक्ष की शक्ति क्या बताया गया, जो शिव की पत्नी है इस पर विद्वानों ने बड़ी अटकलें

लगायी हैं। कुछ विद्वानों ने माना है कि कुबेर ही पौराणिक संस्कृति में दिगम्बर शिव बन गये और उनकी शक्ति उमा ही लक्ष्मी के रूप में स्थापित हुई। कुछ विद्वानों का मत है कि महायक्ष की महाविद्या हैमवती उमा ही तब तक ऐश्वर्य की देवी मानी जाती थी। वस्तुतः वेदकाल में लक्ष्मी भूदेवी के रूप में ही देखी गई है, वह सृष्टि के प्रारम्भ में पृथ्वी के उद्भव का प्रतीक है। अनंत जल में से कमल की तरह पृथ्वी (भू देवी) प्रकट होती है। अपोमण्डल से हिरण्यगर्भ (सुनहले बीज) की उत्पत्ति का रूपक इसी आधार पर है। इसी स्वर्ण कमल पर बैठी लक्ष्मी कमला और पद्मा कहलाती है जिसे पर्जन्य रूपी हाथी (बादल) नहला रहे हैं। यही कमलासना तांत्रिक साधना में श्रीविद्या बन जाती है जो हृदय कमल में रहती है और सृष्टि की समस्त एषणाओं का प्रतीक है, उनकी पूर्ति करती है। यहाँ तक लक्ष्मी का केवल धन से सम्बन्ध नहीं है। श्रीसूक्त में वर्णित धनधान्य, सुवर्ण गाय घोड़े, हाथी देने वाली ऐश्वर्य लक्ष्मी की पूजा बाद में कभी शुरू भी हुई तो पुराण के ऋषि ने उसे चरम महत्त्व की देवी न मानकर विष्णु का पैर दबाने वाली विष्णु-पत्नी माना। विष्णुपत्नी वस्तुतः पृथ्वी का नाम है जो अनन्त समुद्र में शयन करने वाले 'विश्व" रूप विष्णु की पत्नी है—वही लक्ष्मी है जो भौतिक समृद्धि की अधिष्ठात्री है। पुराण के ऋषि को तब तक संतोष नहीं मिला जब तक उसने भृगु ऋषि द्वारा विष्णु के वक्ष स्थल पर लात मारने की कथा लिखकर यह सिद्ध न कर दिया कि लक्ष्मी ऋषियों की आज्ञा से ही विष्णु के पास है।

वैदिक लक्ष्मी के आदिम सृष्टि से उद्भूत सोने की धरती के रूप के साथ यक्ष संस्कृति की सिरी देवी की अवधारणा न जाने कब आकर जुड़ गयी? यक्षों की सिरी देवी धन और ऐश्वर्य की देवी थी। सम्भवतः वह उत्तरी भारत की लोक देवता थी जो बेबीलोनिया की देवी इश्तर से बहुत मिलती है। इसी महायक्षिणी सिरी देवी की लोक पूजा महायक्ष कुबेर के साथ की जाती थी जिसकी परम्परा आज तक चल रही है। जैन और बौद्ध चित्रकला में दो हाथियों द्वारा नहलाई जा रही कमलासना लक्ष्मी के बहुत से चित्र मिलते हैं किन्तु बौद्धों ने धन की इस देवी की उपासना का निषेध किया था। यक्ष संस्कृति में सिरी देवी जिस प्रकार ऐश्वर्य और सौंदर्य की जगमगाते रूपवाली देवी थी उसी प्रकार कालकर्णी देवी दरिद्रता, प्रमाद, निद्रा और आलस्य का प्रतीक थी। वह काली, कलूटी और कुरूप बतायी गई है। कालकर्णी जातक में आज भी उसका यह रूप उपलब्ध होता है। सिरी देवी का वाहन उलूक बताया गया है जो आज तक लक्ष्मी के वाहन के रूप में उससे जुड़ा हुआ है। यह उलूक तांत्रिक साधना में सदा काम आता रहा। इसे रहस्यात्मक और मायावी माना जाता है। यही यक्षों की लोक देवता सिरी के समय की निशानी है जिसकी विद्वान् लोग भांति भांति की व्याख्याएं करते हैं। कभी सिद्ध किया जाता है कि लक्ष्मी के

कृपापात्र लक्ष्मी वाहन (उल्लू) बन जाते हैं, इसलिये यह लक्ष्मी से जुड़ा हुआ है। और कभी यह कहा जाता है कि धन, बुद्धि को कुंठित कर देता है अत उल्लू को लक्ष्मीवाहन माना गया।

वैदिक संस्कृति और यक्ष संस्कृति की लक्ष्मी और सिरी तन्त्र में आकर जब कमला बनी तो उसकी उपासना का काल अमावस्या की आधी रात को माना गया। कार्तिक की अमावस्या (जो अमात मास गणना मे वस्तुत आश्विन की अमावस्या है) को कालरात्रि बताया गया और इस दिन इस तान्त्रिक श्रीविद्या की उपासना अनन्त फलदायक मानी गयी। तन्त्र ने महायक्षिणी सिरी को जिस प्रकार श्रीविद्या और कमला बनाया उसी प्रकार दारिद्रय बुढ़ापे और कुरूपता की प्रतीक कालकर्णी को महाविद्या धूमावती का रूप दिया। दोनो को महाविद्याए माना गया। सौन्दर्य की देवी कमला भी पूजनीय है और कुरूपता की देवी धूमावती भी। प्राचीन लोक संस्कृति के निषाद भी दोनो की पूजा करते थे सिरी की भी और कालकर्णी की भी। किन्तु सिरी से ऐश्वर्य मांगते थे और कालकर्णी से यह मागते थे कि दारिद्रय और बुढ़ापा उन तक न आने पाये। यही परम्परा तान्त्रिक रहस्यवाद ने भी कायम रखी। जिन दस महाविद्याओ को सृष्टि के रहस्यो का प्रतीक माना गया उनमे कमला और धूमावती दोनो को गिनाया गया। दोनो इस सृष्टि के तत्त्व हैं।

पुराणो ने लक्ष्मी के रूप मे जिस देवी को विष्णुपत्नी बतलाया था, उसकी कथा और उसके स्वरूप और उसकी महिमा का बखान विस्तार मे होने लगा। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पत्नियां सरस्वती लक्ष्मी और पार्वती उपास्य देवियां बन गईं।

त्रिदेवो की इन तीन पौराणिक पत्नियो को तन्त्र की रहस्यात्मक पूजा के साथ जोड़ने के समन्वयात्मक प्रयत्न भी पुराणो ने किये। दुर्गा पूजा के विधान के साथ सहारक्रम से (सहार से सृष्टि की ओर आने का क्रम लेकर) क्रमश शिव विष्णु और ब्रह्मा (सहार पालन और सृष्टि के देवता) की शक्तियो के रूप मे महाकाली महालक्ष्मी और महासरस्वती नामक तीन देवियो की उद्भावना की गई जो आज तक नवरात्रो मे पठनीय दुर्गासप्तशती के तीन चरित्रों की प्रतीक देवियां हैं। स्पष्ट है कि इनमे महालक्ष्मी का धन से दूर का भी सम्बन्ध नही है। दुर्गासप्तशती की यह महालक्ष्मी पालन करने वाली शक्ति है जो अष्टादश भुजाओ में भांति भांति के आयुध धारण करती है और महिषासुर मर्दिनी भी है। केवल धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी की कल्पना यदि कभी की गई हो तो वह बहुत अर्वाचीन घटना ही होनी चाहिये।

लक्ष्मी को धनलक्ष्मी गजलक्ष्मी धान्यलक्ष्मी आदि के विविध रूपो मे देखने की परम्परा तो उद्भूत हुई ही, पर उसके विपरीत "अलक्ष्मी" की अवधारणा भी पुराणो ने की जो यक्ष संस्कृति की कालकर्णी और तान्त्रिक उपासना की धूमावती का पौराणिक

संस्करण थी। ब्रह्मपुराण मे लक्ष्मी और अलक्ष्मी का संवाद बडी गहरी चुटकी काटता है जब अलक्ष्मी (दारिद्रय की देवी) लक्ष्मी से कहती है कि "तुम सदा पापी, दुराचारी छली, कपटी लोगो के पास रहती हो, चमचो (वहा शायद ' राजाश्रित" शब्द है) कायरो और लोभियों से तुम्हारी दोस्ती है जबकि मेरा बडा पुराना साथ है विद्वानो, साधुओ ऋषियो, मुनियों से। पवित्र ब्राह्मण और सतोषी सात्विक लोग मेरे तबके म ही आते हैं।" युग की विडम्बनाओ का बडा मार्मिक और सटीक चित्रण है यह। लगता है विद्वानो का और धनाभाव का चोली दामन का साथ बहुत पुराना है। फिर चाहे महाभारत मे और पुराणो मे लक्ष्मी से कितने ही ऐसे स्थान और गुण गिनवाये गये हो जिनमे लक्ष्मी रहती है। इन उक्तियो मे लक्ष्मी कहती है कि मैं उद्यमी, बुद्धिमान, चतुर और स्वच्छ रहने वाले लोगो मे रहती हू, आलसी, प्रमादी, व्यसनी लोगों को छोड देती हू आदि।

पुराणो ने लक्ष्मी की उत्पत्ति उस समुद्रमथन से बताई है जो देवो और असुरो द्वारा किया गया था। समुद्रमथन की यह कल्पना आग्नि अपोमण्डल से सृष्टि के उद्‌भव की कथा तो है ही जिससे चन्द्रमा और पृथ्वी ही नही धन्वतरि उच्चै श्रवा, अमृत विष वारुणी (सुरा) आदि 14 रत्न प्रकट होते हैं, यह इस ओर भी सकेत करती है कि समुद्र के रत्नो का दोहन किये बिना तथा समुद्र पार तक वाणिज्य फैलाये बिना किसी भी देश मे लक्ष्मी नही आती। समुद्र का मथन जिस प्रकार देवो और असुरो ने किया था उसी प्रकार सूय और चन्द्र की सम्मिलित आकर्षण शक्ति से समुद्रो मे जो ज्वार आते हैं वे भी समुद्रमथन जैसे ही लगते हैं। ऐसे ज्वार अमावस्या को आते हैं—और कार्तिक की अमावस्या के ज्वार भीषण होते हैं। हो सकता है इसी कारण कार्तिक अमावस्या को लक्ष्मी की उत्पत्ति का दिन मानकर इस दिन उनकी पूजा प्रचलित हुई हो। किन्तु इस दिन लक्ष्मीपूजा का विधान प्राचीन धर्मग्रन्थो मे नही मिलता बल्कि कृष्णपक्ष मे लक्ष्मी पूजन का निषेध मिलता है। किस प्रकार और किस समय से इस दिन ' लक्ष्मी पूजन की परम्परा चली इस पर विद्वानों ने बहुत शोध किया है और इस घटना को गत 500 वर्ष से पुरानी नहीं माना है किन्तु इस सबके विवेचन का यहा अवकाश नही है।

□

तान्त्रिक रहस्य और शक्तिपूजा

शरत्काल आजकल तो उत्तर भारत मे राम चरित्र के लीलादर्शों को लेकर उतरता है। आश्विन मास के शुक्ल पक्ष मे प्रतिदिन सायकाल को होने वाली राम लीलाओ ने जिस प्रकार नवरात्रो को रामनाम के साथ जोड दिया है उसी प्रकार विजयदशमी को भी राम की रावण पर विजय का पर्व बताने वालो ने रामकथा मे गूथ दिया है। ऐसो मा यताए कब, क्यो, कहा और कसे शुरू हुइ इस पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। यह भी स्पष्ट है कि नवरात्रो का सम्बन्ध राम से न होकर मूलत तत्र के शाक्त मत से है जिसके अनुसरण मे देश मे दुर्गा, चामुडा, चण्डी देवी काली, शिलादेवी जैसी देवियो की पूजा आराधना की जाती रही है। देश के पूर्वी अचल मे, विशेषकर बगाल मे शरत् काल 'पूजा" अर्थात् दुर्गापूजा के महोत्सवो को लेकर आता है और वहा पूजा का उत्सव वर्ष का प्रमुख उत्सव और पूजा का अवकाश वर्ष का प्रमुख अवकाश माना जाता है।

तत्र का वदिक उत्स

नवरात्र मे देवी पूजा की परम्परा भी इस देश की बहुत पुरानी आराधना पद्धति रही है और विश्व मे मातृशक्ति की पूजा की आदिम परम्परा से जुडी हुई है। वेदो मे जहा जहा वाक्शक्ति का या परा वाक् या उल्लेख है उसे देवी पूजा का स्रोत मानकर उसे वदिक काल से जोडने वाले भी अनेक मत प्रचलित हैं। मध्यकाल मे कमकाण्ड की प्रचलित पद्धतियो के कारण एक ऋचा को जो मूलत वाकशक्ति के प्रसग मे उसकी व्यापकता बताती है निरुक्त मे यास्क द्वारा किये गये सकेतानुसार गौरी का मत्र माना गया होगा जो आज भी गौरी आदि 16 देवियो (षोडश मातृकाओ) के पूजन मे या गौरी अथवा दुर्गा के पूजन मे उन्ही का मत्र मानकर बोला जाता है। गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती" से शुरू होने वाले इस मत्र के प्रारम्भ मे "गौरी" शब्द आता है अत इसे गौरी का मत्र माना जाता है जबकि मूलत इसमे गौरी शब्द है ही नही, इसमे जो सधि है वह है 'गौ + ई + मिमाय" आदि। यह गतिशील वाक्तत्व के अष्टपदी नवपदी, सहस्राक्षरा आदि रूपो के व्यापकत्व का सकेत करता है। शायद उसी परा शक्ति के रहस्यात्मक चिन्तन ने तत्रशास्त्र को जन्म दिया होगा इस दृष्टि से इस मत्र की सगति हो सकती है किन्तु इसका प्रारम्भ "गौरी' शब्द से न होकर "गौ" शब्द से होता है यह सन्दर्भ को

देखने से लगता है। यास्क ने अवश्य ही यहा गौर शब्द और गौरी शब्द की योजना की है।

वेदकाल मे शक्तिपूजा का क्या स्वरूप रहा होगा इसके विवेचन की यहा आवश्यकता नही है किन्तु शैव और शाक्त आराधना पद्धतियो को बहुत व्यापक, सुगठित और बहुमान्य आधार और स्वरूप दिया तन्त्र ने जिसका अपना दर्शन, अपना विज्ञान, अपनी उपासना प्रणाली और इतना व्यापक शाखा प्रशाखा विस्तार है कि उसका आकलन अब तक संभव नही हो पाया है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी रहा कि तन्त्रविद्या को प्रारम्भ से ही इतना गोपनीय और रहस्यात्मक बना कर रखा गया कि उसका प्रचार तो दूर, गुपचुप किसी को बताने या गुरु द्वारा शिष्य को दिये जाने मे भी कट्टर गोपनीयता बरती गई। यही कारण है कि तन्त्र का अधिकांश साहित्य आज भी अमुद्रित है बहुत से ग्रंथ प्रकट हुए बिना ही एकान्त अंधेरो मे खो गये या सदा के लिए सो गये। वर्ष मे शरत्काल के नौ दिनों तक की जाने वाली देवीपूजा के समय जिसे नवरात्र पूजन कहा जाता है, पूरा देश एक बार फिर इस तान्त्रिक परम्परा की स्मृतिया ताजा कर लेता है।

पौराणिक दुर्गापूजा

नवरात्रों में देवी के मन्दिरो मे जो पूजाए की जाती हैं, या परिवारो मे जो दुर्गापूजा होती है उसमे देवी दुर्गा के उस स्वरूप की पूजा की जाती है जो मूलत पौराणिक परम्परा की देवी है और जिसे मार्कण्डेयपुराण के उन तेरह अध्यायो मे निबद्ध देवी चरित्र की नायिका मानकर असुरों का संहार करने वाली सांसारिक मोह बन्धनों को काटने वाली तथा अभय एव विजय प्रदान करने वाली देवी के रूप मे पूजा जाता है। इन तेरह अध्यायो मे लगभग सात सौ श्लोक हैं अत इसे दुर्गा सप्तशती भी कहा जाता है। देवी के आराधक नवरात्र भर प्रतिदिन इस दुर्गा-सप्तशती का पाठ करते हैं। इस पौराणिक आख्यान के तीन भाग करके एक को महाकाली की, दूसरे को महालक्ष्मी की और तीसरे को महासरस्वती की पूजा के साथ जोड कर क्रमश शिव, विष्णु और ब्रह्मा की शक्तिया बता दिया गया है और इस प्रकार पौराणिक आख्यानो के साथ तान्त्रिक रहस्य को गूथकर, साथ ही उसमें वैदिक "रात्रिसूक्त" जैसी कुछ ऋचाओं को जोडकर वैदिक परम्परा पौराणिक आख्यान और तान्त्रिक रहस्योपासना की त्रिवेणी बहा दी गई है। पुरानी परम्पराओ के साथ नई पद्धतियो का समन्वय करते चलने की यह प्रवृत्ति भारत की संस्कृति की एक अनूठी विशेषता है।

वस्तुत वैदिक बहुदेववाद, वैज्ञानिक तत्त्वविमर्श और ऋषिप्रज्ञा के मूल विश्व चिन्तन के बाद उपनिषदों की गम्भीर दार्शनिक तत्त्वजिज्ञासा और गूढ, अमूर्त और बौद्धिक चिन्तनसरणि के समन्वय के फलस्वरूप तन्त्रविद्या ने एक अद्भुत, व्यापक

तान्त्रिक रहस्य और शक्तिपूजा

शरद्काल आजकल तो उत्तर भारत मे राम चरित्र के लीलादृश्यो को लेकर उतरता है। आश्विन मास के शुक्ल पक्ष मे प्रतिदिन सायकाल को होने वाली राम लीलाओ ने जिस प्रकार नवरात्रो को रामनाम के साथ जोड दिया है उसी प्रकार विजयदशमी को भी राम की रावण पर विजय का पर्व बताने वालो ने रामकथा म गूथ दिया है। ऐसी मा यताए कब, क्यो, कहा और कसे शुरू हुइ इस पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। यह भी स्पष्ट है कि नवरात्रो का सम्बन्ध राम से न होकर मूलत तत्र के शाक्त मत से है जिसके अनुसरण मे देश मे दुर्गा, चामु डा, वष्णवी देवी काली, शिलादेवी जसी देवियो की पूजा आराधना की जाती रही है। देश के पूर्वी अचल मे, विशेषकर बगाल मे शरद् काल 'पूजा" अर्थात् दुर्गापूजा के महोत्सवो को लेकर आता है और वहा पूजा का उत्सव वर्ष का प्रमुख उत्सव और पूजा का अवकाश वर्ष का प्रमुख अवकाश माना जाता है।

तत्र का वदिक उत्स

नवरात्र मे देवी पूजा की परम्परा भी इस देश की बहुत पुरानी आराधना पद्धति रही है और विश्व मे मातृशक्ति की पूजा की आदिम परम्परा से जुडी हुई है। वेदा म जहा जहा वाक्शक्ति का या परा वाक् या उल्लेख है उसे देवी पूजा का स्रोत मानकर उसे वदिक काल से जोडने वाले भी अनेक मत प्रचलित हैं। मध्यकाल मे कमकाण्ड की प्रचलित पद्धतियो के कारण एक ऋचा को जो मूलत वाक्शक्ति के प्रसग में उसकी व्यापकता बताती है निरुक्त मे यास्क द्वारा किये गये सकेतानुसार गौरी का मत्र माना गया होगा जो आज भी गौरी आदि 16 देवियो (षोडश मातृकाओं) के पूजन में या गौरी अथवा दुर्गा के पूजन मे उ हीं का मत्र मानकर बोला जाता है। 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती" से शुरू होने वाले इस मत्र के प्रारम्भ मे "गौरी' शब्द आता है अत इसे गौरी का मत्र माना जाता है जबकि मूलत इसमे गौरी शब्द है ही नहीं, इसमे जो सधि है वह है गौ + ई + मिमाय" आदि। यह गतिशील वाक्तत्व के अष्टपदी नवपदी, सहस्राक्षरा आदि रूपो मे व्यापकत्व का सकेत करता है। शायद उसी परा शक्ति के रहस्यात्मक चि तन ने तत्रशास्त्र को ज म दिया होगा इस दृष्टि से इस मत्र की सगति हो सकती है कि तु इसका प्रारम्भ "गौरी" शब्द से न होकर "गौ " शब्द से होता है यह स दम को

देखने से लगता है। यास्क ने अवश्य ही यहा गौर शब्द और गौरी शब्द की योजना की है।

वेदकाल मे शक्तिपूजा का क्या स्वरूप रहा होगा इसके विवेचन की यहा आवश्यकता नहीं है किन्तु शव और शाक्त आराधना पद्धतियो को बहुत व्यापक, सुगठित और बहुमान्य आधार और स्वरूप दिया तन्त्र ने जिसका अपना दर्शन अपना विज्ञान, अपनी उपासना प्रणाली और इतना व्यापक शाखा प्रशाखा विस्तार है कि उसका आकलन अब तक सभव नही हो पाया है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी रहा कि तन्त्रविद्या को प्रारम्भ से ही इतना गोपनीय और रहस्यात्मक बना कर रखा गया कि उसका प्रचार तो दूर, गुपचुप किसी को बताने या गुरु द्वारा शिष्य को दिये जाने मे भी कट्टर गोपनीयता बरती गई। यही कारण है कि तन्त्र का अधिकाश साहित्य आज भी अमुद्रित है बहुत से ग्रथ प्रकट हुए बिना ही एकान्त अधेरो मे खो गये या सदा के लिए सो गये। वष मे शरत्काल के नौ दिनो तक की जाने वाली देवीपूजा के समय जिसे नवरात्र पूजन कहा जाता है, पूरा देश एक बार फिर इस तान्त्रिक परम्परा की स्मृतिया ताजा कर लेता है।

पौराणिक दुर्गापूजा

नवरात्रा मे देवी के मन्दिरो मे जो पूजाए की जाती हैं, या परिवारो मे जो दुर्गापूजा होती है उसमे देवी दुर्गा के उस स्वरूप की पूजा की जाती है जो मूलत पौराणिक परम्परा की देवी है और जिसे मार्कण्डेयपुराण के उन तेरह अध्यायो मे निबद्ध देवी चरित्र की नायिका मानकर, असुरो का सहार करने वाली सासारिक मोह बन्धनो को काटने वाली तथा अभय एव विजय प्रदान करने वाली देवी के रूप मे पूजा जाता है। इन तेरह अध्यायो मे लगभग सात सौ श्लोक हैं अत इसे दुर्गा सप्तशती भी कहा जाता है। देवी के आराधक नवरात्र भर प्रतिदिन इस दुर्गा-सप्तशती का पाठ करते हैं। इस पौराणिक आख्यान के तीन भाग करके एक को महाकाली की, दूसरे को महालक्ष्मी की और तीसरे को महासरस्वती की पूजा के साथ जोड कर क्रमश शिव, विष्णु और ब्रह्मा की शक्तिया बता दिया गया है और इस प्रकार पौराणिक आख्यानो के साथ तान्त्रिक रहस्य का गुथकर, साथ ही उसमे वदिक "रात्रिसूक्त" जसी कुछ ऋचाओ को जोडकर वदिक परम्परा पौराणिक आख्यान और तान्त्रिक रहस्योपासना को त्रिवेणी बहा दी गई है। पुरानी परम्पराओ के साथ नई पद्धतियो का समन्वय करते चलने की यह प्रवृत्ति भारत की सस्कृति की एक अनूठी विशेषता है।

वस्तुत वदिक बहुदेववाद, वनानिक तत्त्वविमर्श और ऋषिप्रज्ञा के मूल विश्व चिन्तन के बाद उपनिषदो की गम्भीर दार्शनिक तत्त्वजिज्ञासा और गूढ, अमूर्त और बौद्धिक चिन्तनसरणि के समन्वय के फलस्वरूप तन्त्रविद्या ने एक अद्भुत, व्यापक

निगूढ जीवनदृष्टि को जन्म दिया जिसने सारे देश मे फैलकर, चीन और भोट (तिब्बत) देश तक फैली बौद्ध उपासनापद्धति, यौगिक क्रियाओ म प्रतिफलित होने वाले तथा यम नियम आसनादि द्वारा शरीर की तत्रिकाओ, नाडियो और मानसिक प्रक्रिया का नियन्त्रित करने वाले हठयोग या राजगुह्ययोग के क्रियात्मक पथ तथा यत्र और मत्र का पारस्परिक समन्वय कर एक सुव्यवस्थित शास्त्र को ही सृष्टि कर डाली जिसे तत्र शास्त्र की इन्द्रधनुषी, अपरिभाषित और गुप्त झिलमिलाहट के रूप मे आज भी अनुभूत किया जा सकता है। इसकी धूम विदेशों तक पहुच चुकी है पर यह समूचा ताना-बाना क्या है, इस पर अटकलें तो लगाई जाती रही हैं, उसे समग्रता मे उतार कर समझाया नही जा सका है चाहे सर जान वुडरफ जसे कुछ विदेशी खोजियो ने इस पर अग्रेजी मे पुस्तकें लिखी हो और गोपीनाथ कविराज जसे कुछ मनीषियो ने इस युग मे आकर हिन्दी माध्यम से भी इसके रहस्य की परतें खालने का प्रयत्न किया हा।

तत्र का रहस्यलोक

जिस प्रकार वदिक तत्त्व चिन्तन सृष्टि प्रक्रिया का, प्रकृति के विभिन्न तत्त्वा का, ब्रह्माण्ड के विभिन्न निकायो का वज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार तत्र उस विश्वव्यापक चतन्य का समष्टि मे और बाह्यजगत् मे व्याप्त "चित्" की धारा का स्वय के भीतर खोजता है। द्रव्य की, तत्त्वो की, पदार्थों की बाहरी खोज को वह एक चत यात्मक अन्तमुखी मोड देता है, सृष्टि को ब्रह्माण्ड को, एक ज्यामितिक आकार मे भावनात्मक धरातल पर अन्तभू त कर, कुछ नादात्मक मातृकाओ (बीजमत्रो) को अनुस्वारात्मक अनुरणन मे अनुभूत करता है और समष्टिचेतना को व्यष्टि मे उतारकर अपने आपके किसी रहस्यात्मक, सुगुप्त कोने म उस अदृश्य शक्ति को आत्मसात् कर लेता है। जहा वदिक ज्ञान और परा विद्या, शुद्ध चत य ऊर्जा और प्रसूत शक्ति के रूप मे रहस्य के धरातल पर उतरते हैं ज्ञान क्रिया मे परिणत होता है स्थूल सूक्ष्म मे वही से तत्र की भावभूमि शुरू होती है। इसी रहस्यजगत् के गोपनीय प्रकोष्ठो मे तत्र ने अपनी दाशनिक मान्यताओ का एक समूचा तानाबाना खडा कर लिया है विभिन्न उपासना पद्धतियो का एक विशाल, बहुरगी ससार सृजित कर लिया है, उन दाशनिक सिद्धा तो के आलोक मे रहस्यात्मक यत्रो के आरेख विकसित कर लिए हैं और शिव तथा शक्ति की उपासना के लिए अनेक रहस्यात्मक ध्वनिया (बीजमत्र) स्थापित कर दी हैं। तभी तो निगम (वेद) और आगम (शास्त्र) म कोई एक दूसरे से कम नही है जितना विस्तार और महत्त्व निगम का है उतना ही आगम (तत्र) का भी। शरीर के षट्चक्रो म चिच्छक्ति के उस सारे रहस्य को छिपाकर अपने मनोराज्य के अन्दर साधना के दपण मे उसका साक्षात्कार करने वाली तात्रिक उपासना सैकडो वर्षों स अनेक शव और शाक्त

मतों, सम्प्रदायो, पथो और पद्धतियो के मार्गों मे फँस गई है। दुर्भाग्य-यह है कि विदेशियों के सम्मुख या जनसाधारण के सम्मुख आज तत्र के नाम से उलटी-सीधी टोने टोटके जैसी उन क्रियाओ का ऐसा विकृत रूप हो आ रहा है जिनका तत्र से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। अथदच, तथाकथित तत्रवादो ने चटखारे लेने के लिए पच मकार श्मशान साधना, कापालिको के अभिचार आदि की ऐसी कहानिया गढ ली हैं जिनसे तत्र का एक औपन्यासिक किन्तु नितान्त विकृत रूप उभरता है जो उसके वास्तविक स्वरूप का पता भी नही लगने देता।

शाक्त तत्र

चाहे वीर शव, पाशुपत आदि शैवतत्र बहुत पुराने हो, किन्तु साधना भूमि में आकर तत्र की विभिन्न उपासना पद्धतियो मे शाक्त उपासना ही प्रमुख हो गई, शव, उपासना अथवा भैरव आदि की उपासनाए उसी का आचारगत विस्तार रह गइ। चिच्छवित की रश्मियो से इच्छाशक्ति को प्रबल करता हुआ तान्त्रिक साधक मत्रो के जप, यत्रो की पूजा स्तोत्रो के पाठ शक्ति के दृश्य चित्रो या मूर्तियो की पूजा आदि साधनाओ के अतिरिक्त शवसाधना और श्मशान साधना तक करते हुए इस देश के साहित्य और सस्कृति के साथ बडे रहस्यात्मक रूप मे जुडा हुआ है। वह चाहे कौल हो या वाममार्गी, कापालिक हो या अघोरी अथवा सात्विक उपासना या दक्षिणाचार की उपासना का अनुयायी हो, उसी शक्ति पूजा के पथ का पथिक है।

इस तान्त्रिक शक्तिपूजा की जो विभिन्न धाराए चली उनमे रहस्यात्मक उपासना मे दश महाविद्या (गुह्य विद्याओ) की साधना इसकी प्रमुख शाखा थी। उसीका एक अ य आयाम पौराणिक नव दुर्गाओं के रूप मे फैला। दश महाविद्याएँ हैं—काली तारा, षोडशी भुवनश्वरी छिन्नमस्ता त्रिपुरभैरवी धूमावती बगला मुखी (जिसे बगलामुखी भी कहा जाता है) मातगी और कमला। इन सबकी मानवीय रूप मे अवधारणा करके इनके ध्यान विकसित किये गये। अलग अलग बीजमत्र बताये गये तथा पूजा के विभिन्न प्रकार वर्णित किये गये। प्रत्येक देवी (शक्ति) की पूर्णता के लिए उनके शिव (जिन्हे क्रियात्मक उपासना मे भरव के रूप मे पूजा जाना है) की अवधारणा की गई। शिव और शक्ति का यह सयोग ही तो इच्छा और क्रिया का सयोजन है। इन उपासनाओ को इतना गुप्त रखा जाता था कि इन महाविद्याओ का नाम लेना भी उचित नही समझा जाता था। उन्हें आद्या (काली) द्वितीया (तारा) इस प्रकार के सकेतो से अभिहित किया जाता था। आज भी आद्याचरण या आद्यादत्त जैसे नाम कालीचरण या कालीदत्त के पर्याय के रूप मे बगाल मिथिला आदि प्रदेशो मे सुपरिचित हैं।

नव दुर्गायें

महाविद्याओं की तान्त्रिक उपासना के समानान्तर पौराणिक दुर्गा पूजा की भी अनेक पद्धतियां तथा शृंखलाएं विकसित हुईं। सिंहवाहिनी दुर्गा के ही विभिन्न प्रतीकों के रूप में नव दुर्गायें गिनाई जिनके नाम हैं—शैल पुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघंटा कूष्मांडा, स्कंदमाता कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री। सैकड़ों वर्षों से चल रही कन्या पूजन (वर्जिन वर्शिप) की परम्परा के साथ ये भी दुर्गायें जुड़ी हुई हैं। नवरात्र के नौ दिनों की गणना के साथ इनका तालमेल बैठ जाता है। इसलिए साधक आश्विन शुक्ल अष्टमी को जिसे महाष्टमी या दुर्गाष्टमी भी कहा जाता है नौ कन्याओं का नवदुर्गाओं के रूप में पूजन करते हैं। महिषासुर मर्दिनी दुर्गा, चंड, मुण्ड आदि का संहार करने वाली चामुण्डा और शुंभ निशुंभ आदि का वध करने वाली कालिका शक्ति के चरित्र का महत्व स्पष्ट करने के लिए पौराणिक उपाख्यान प्रचलित हैं जिससे इनकी तान्त्रिक रहस्यात्मक उपासना के साथ भक्ति मार्ग का ऐसा संगम हो गया है कि इनका नीरक्षीर विवेक करना कठिन हो जाता है। बेशक, महाविद्याओं की उपासना तान्त्रिक यन्त्रों (आरेखों) से कुछ आगे भी बढ़ी तो केवल उनके मानवीकरण और देवी के रूप में ध्यान तक ही सीमित रही, उनके पौराणिक चरित्र वर्णित नहीं किये गये। तंत्र के रहस्य और पुराण की भक्ति का यह गंगा-जमुनी तालमेल कश्मीर की 'वैष्णो" देवी की यात्रा के समय उन्हें माता मानकर भजन गाते नाचते, झूमते हुए जाने वाले भक्तों से लेकर महिषमर्दिनी की मूर्ति की आरती उतारते और नाचते गाते बंगाली भक्तों तक में देखा जा सकता है। भक्ति की इस धारा ने किसी भी उपासना की शाखा को सरल बनाये बिना नहीं छोड़ा। मामला यहां तक गया कि पुराणों में से किसी ने इस शक्ति को विष्णु की ही महामाया बना दिया (ताकि वैष्णव सम्प्रदाय से तालमेल बैठा रहे) किसी ने शिव की पत्नी पार्वती। पार्वती को ही काली चित्रित कर महाकाली के रूप में देखा गया और गौरी के रूप में शिव की अर्धांगिनी बताया गया (ताकि शैव सम्प्रदायों से समन्वय रह सके)। समन्वय की यह भावभूमि भारत की समूची संस्कृति में बहने वाली चिरन्तन अन्तःसलिला धारा का अजस्र आधार है।

अभय की देवी

सृष्टि, स्थिति और संहार की यह देवी पुराणों में जहां ब्रह्मा, विष्णु महेश इस त्रिदेव समष्टि के साथ जुड़ गई वहां साधनाभूमि में जीवन और मृत्यु की चिरन्तन रहस्य विद्या ही बनी रही। महाकाली शव पर चिताभूमि के मध्य खड़ी है। यह शव उसकी चित्शक्ति के स्पर्शमात्र से शिव बन जाता है। नरमुंडों की माला धारण किये हुए जीभ लपलपाती हुई यह संहार की देवी अपनी एक मुस्कान से सृष्टि की चिरन्तन सृजन प्रक्रिया का आरम्भ कर देती है। इसकी उपासना दोनों

ही क्रमो से की जाती है। सृष्टि से सहार की ओर जाने वाला क्रम और सहार मे सृष्टि की ओर आने वाला क्रम। मातृकाओ मे व्यजन शृखला का आदिम अक्षर है 'क' और अंतिम 'ह'। आप क से शुरू करके ह तक जाए या ह से क तक (इनको कही कही कादि' और 'हादि''केरहस्यात्मक सकेतो से भी अभिहित किया जाता है) सृष्टि और सहार की आवतन की यह शृखला तो यो ही बनी रहेगी। यदि सृष्टि से प्रारम्भ करेंगे तो सहार अवश्यभावी है, परन्तु सहार से शुरू करेंगे तो वह भी अन्तत सृष्टि तक ले ही जाएगा। आदि शक्ति की पूजा सृष्टि और सहार के इस अनादिचक्र का रहस्य समझाती है यही सबसे बडा भय है जिसका वह नाश करती है। असुरो का, राक्षसो का शत्रु का ये सारे भय उस भय के सामने कोई चीज नहीं। यह भयकर महाकाली उस भय पर आनन फानन मे विजय दिला देती है। यही तो है रहस्य इसके महाभीषण स्वरूप का इसकी लपलपाती जीभ और, लाल लाल आखो का। इसी चामुण्डा के सामने महिष की बलि देकर मैसूर नरेश नवरात्रो की सपन्नता के बाद विजयदशमी का महोत्सव मनाते हैं। राजस्थान मे आमेर की शिलादेवी, करौली की कैलादेवी, बीकानेर की करणी माता सभी उसी शक्ति के रूप हैं। आश्विन शुक्ल के नवरात्र इसी आद्या महाशक्ति की स्मृति का पावन पर्व है।



राम का चरित

राम का नाम भारत के जनमानस मे जिस गहराई तक पैठा हुआ है उसकी मिसाल विश्व के किसी भी देश की सस्कृति के इतिहास मे नही है। हजारो वर्षो से राम के आदर्श चरित्र की सुवास प्रत्येक भारत वासी के श्वास श्वास मे बसी हुई है। आज राम का नाम रामराज्य के आदर्श राजा का प्रतीक ही नही है मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप मे भक्तो का आराध्य भी है और समस्त मानवीय गुणो के अभूतपूर्व सगम की एक अमर प्रतिमा भी है।

भारतीय जनता के सामूहिक अवचेतन मे राम की इस प्रतिमा की स्थापना का श्रेय सस्कृत के आदि कवि तथा राम कथा के सवप्रथम गायक वाल्मीकि को है। उन्होने राम के चरित्र का आख्यान एक युग प्रवतक नेता तथा उत्कृष्टतम शासक के रूप मे करना चाहा था यह बात रामायण से स्पष्ट हो जाता है। रामायण के प्रथम सग मे वाल्मीकि नारद से पूछते हैं कि इस समय इस लोक मे कौन ऐसा महा मानव है जिसे मैं अपने महाकाव्य का नेता बनाऊ। युगपुरुष मे कौन कौनसे गुण हो सकते हैं। उन्हे भी वे गिनाते हैं। नारद उन्हे बतलाते हैं कि आपके बताये हुए गुणो के धनी एक महापुरुष को मैं जानता हू —

बहवो दुलभाश्चव ये त्वया कीर्तिता गुणा। मुने वक्ष्याम्यह बुद्ध्वा तयु क्त श्रूयता नर ॥

इस नर के चरित्र को ही वाल्मीकि ने निबद्ध किया है। यद्यपि रामायण मे स्थान-स्थान पर राम को विष्णु का अवतार सिद्ध करने वाली स्तुतिया तथा प्रत-कथाए जुड गई हैं किन्तु मूलत वाल्मीकि के वण्य राम एक आदश युगपुरुष तथा महामानव हैं। समस्त मानवोचित गुणो के एक साथ उनम समन्वित हो जाने के कारण उन्हे परमेश्वर या परात्पर ब्रह्म मानकर भक्तो के आराध्य के रूप मे उनकी पूजा बाद का ही सकल्पना लगती है।

वाल्मीकि मे राम विद्वान् विवेकी और सौम्य होने के साथ साथ अप्रतिम धनुधर, योद्धा और दुधप भी हैं। रामबाण की अमोघता सुविदित है। शूरता के साथ गुरुजनो के प्रति असीम विनय और बन्धु बान्धवो से अप्रतिम स्नेह उनकी विशेषता है। रामायण के प्रथम दो काण्डो मे राम का जो चरित्र चित्रण है उसमे उनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यदि एक शब्द म कही जाए तो वह है उनकी

लोकप्रियता और इस लोकप्रियता के प्रमुख कारण उनके उपयुक्त सद्गुण ही है। धैर्य विवेक, राजनीतिकुशलता और लोकप्रियता के इन गुणों को देखकर ही उनके पिता महाराज दशरथ सारा राज्यभार उन्हें सौंप कर निश्चिन्त हो जाना चाहते हैं और उन्हें विश्वास है कि राम उनके राज्य का न केवल कुशल प्रशासन करेंगे अपितु उसकी सौगुनी श्रीवृद्धि कर देंगे। किन्तु इस कार्य में एक सबसे बड़ी राजनतिक गुत्थी भी है। जिस समय दशरथ ने कैकयी के साथ विवाह किया था कैकय नरेश ने उनसे यह शर्त करवा ली थी कि उनकी पुत्री कैकयी को जो पुत्र होगा यदि वह ज्येष्ठ पुत्र हुआ तो नियमानुसार उसे राज्य करने का उत्तराधिकार मिलेगा ही किन्तु यदि वह ज्येष्ठ न भी हुआ तो भी उसे ही राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाएगा। भारत भर की सामान्य परंपरा के विरुद्ध ऐसा आश्वासन देने का अधिकार राजा दशरथ को न होते हुए भी उन्होंने यह शर्त मान ली थी। अब जब कैकयी के पुत्र भरत दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र न होते हुए भी इस शर्त के अनुसार राज्य के अधिकारी सिद्ध होते हैं तो राज्य उन्हें दिया जाए या ज्येष्ठ पुत्र राम को यह समस्या दशरथ के सामने मुंह बाए खड़ी थी। यह स्पष्ट था कि राम सारे राज्य में अपने गुणों के कारण इतने लोकप्रिय थे कि सारी मंत्रिपरिषद्, विद्वद्वर्ग और जनता उन्हें ही युवराज बनाना चाहते थे। भाइयों के वे इतने प्रिय थे कि भरत के सामने भी यह प्रश्न आता तो वे स्वेच्छा से राम को राजा मानते। स्वयं कैकयी भी यही कहती— किन्तु दशरथ के मन में कुछ दुविधा थी—अतः उन्होंने भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में कैकयी से पूछे बिना राम को युवराज बनाने की आज्ञा दी।

राम की निःस्पृहता सुविदित है। वे निःस्पृह भाव से इस आज्ञा को स्वीकारते हैं और जब कैकयी राजा से राम के वनवास और भरत के यौवराज्य की बात मनवा लेती है तो वे कहते हैं कि पिता की आज्ञा से मैंने यह स्वीकार किया था, उनकी आज्ञा हो तो मैं सब कुछ स्वीकार कर लूंगा। वे मेरे पिता तो हैं ही, हितैषी भी हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि वे इस राज्य के शासक हैं—और मैं इस अनुशासन का मानने वाला हूँ कि शासक की आज्ञा का कड़ाई से अनुपालन हो—

'अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा हितेन च नृपेण च।
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।'

राम कैकयी से कहते हैं कि "राजा जो कह देंगे मैं करूंगा। उनके कहने से मैं जहर भी पी सकता हूं, आग में कूद सकता हूं। अतः आप उनकी आज्ञा मुझे

बतलाए, मैं उसका अनुपालन करूंगा। आप जानती हैं कि राम दो बार नहीं बोलता।"

वाल्मीकि के अनुसार समस्त जनता, राजा दशरथ स्वयं भरत तथा ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार का कानून सारी, बातें राम के पक्ष में थी किन्तु अनुशासन तथा राजा दशरथ द्वारा दिये हुए वचन की रक्षा के लिये उनका यह त्याग ही उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम बना गये हैं। स्वयं भरत व समस्त भाइयों के अनुरोध तथा प्रजा के द्वारा प्रार्थना करने के बाद भी चौदह वर्षों के वनवास के अनन्तर ही उन्होंने राज्य स्वीकार किया।

सामाजिक प्रथाओं में सुधार भी राम जैसे युगपुरुष ही कर सकते थे। उन दिनों बहु विवाह प्रथा राजाओं में सुप्रचलित थी। स्वयं राजा दशरथ की तीन पट रानियां तथा साढ़े तीन सौ रानियां थीं किन्तु राम ने इस परंपरा को तोड़ कर एक पत्नीव्रत की परंपरा चलाई जो उनके सभी भाइयों ने भी मानी।

राजनैतिक सूझबूझ और शासकोचित विवेक भी वाल्मीकि के राम की विशेषताएं हैं। लोकप्रिय नेता अपनी जनता के साथ किस प्रकार का आचरण करे इसके दो एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। रावण का वध और लंका की विजय के बाद अशोकवाटिका से राजा सुग्रीव की देखरेख में सीता को विजयी राम के पास बंद पालकी में बिठाकर लाया जा रहा है। विजयी सम्राट की रानी की सवारी के लिये सारी प्रजा और वानरों आदि को हटाकर रास्ता साफ किया जा रहा है—आरक्षी लाठियों से जनता को दूर हटा रहे हैं। राम इन दोनों बातों को नापसन्द करते हैं—न तो सम्राज्ञी सीता का पर्दे में आना उन्हें पसंद है न उनकी प्यारी जनता तथा वानरों का हटाया जाना—वे कहते हैं—

किमथ मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः।
निवर्तयैनमुद्वेगं जनोऽयं स्वजनो मम।
न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रिया
नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियाः।
विसृज्य शिबिकां तस्मात्पद्भ्यामेवापसर्पतु
समीपे मम वैदेही पश्यन्त्वेते वनौकसः।

इस प्रकार जनता को तंग करने से राजा का गौरव थोड़े ही रहता है—सुग्रीव, इन सबको रास्ते के किनारे खड़े रहने दो और सीता को पालकी और पर्दा छोड़कर पैदल आने दो। पर्दे से स्त्री के शील की रक्षा नहीं होती—उसका स्वयं का चरित्रबल ही उसका आवरण होता है।

रावण के मरने के बाद उसका दाहकर्म करने को कोई नहीं रह जाता। केवल विभीषण बचता है। इधर ऐसे दुष्ट शत्रु का दाहकर्म विभीषण द्वारा करवाना राम की सेना में कोई नहीं चाहता। इस पर राम स्वयं विभीषण को समझाते हैं—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ।
त्वत्सकाशान्महाबाहो संस्कारं विधिपूर्वकम्
क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग् भविष्यसि ।

मृत्यु के साथ ही सारे वैर विरोध समाप्त हो जाते हैं। रावण का यथाविधि अंतिम संस्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। अब यह मेरा भी उसी प्रकार भाई है जिस प्रकार तुम्हारा। तुम इसका विधिपूर्वक अंतिम संस्कार करो।

ऐसी स्वस्थ परंपराओं की स्थापना राम के चरित्र की विशेषता है।

राम की राजनीतिक सूझबूझ का उदाहरण हमें वहां मिलता है जहां अचानक ही विभीषण रावण को छोड़कर राम के पक्ष में आ मिलना चाहता है और राम के पास संदेश भेजता है कि वह उनके पास शरण चाहता है। इस संदेश को राम के सभी सलाहकार संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उस वातावरण में अचानक शत्रुपक्ष के किसी व्यक्ति पर विश्वास करना वैसे भी राजनीति के विरुद्ध है फिर सुग्रीव, हनुमान आदि सभी राम को कहते हैं कि बिना परखे शत्रु के भाई को विश्वास में लेना गलत होगा। सबके विरोध के बावजूद राम विभीषण की उक्ति से ही उसके सद्भाव को परखकर उसे अपना लेते हैं और विश्वासपात्र बना लेते हैं। समय ही बतलाता है कि इससे कितना राजनैतिक लाभ उन्हें मिलता है। विभीषण को विश्वास में लेते ही उनसे राम का सबसे पहला प्रश्न होता है—

आख्याहि मम तत्त्वेन राक्षसानां बलाबलम्।

रावण की सैन्य व्यवस्था के बारे में जानकारी तथा अन्य सभी गुप्त सूचनाएं उन्हें विभीषण से ही मिलती हैं। उनके आधार पर स्वयं राम अपने सैन्य का विभाजन तथा मोर्चों का निर्धारण करते हैं। "बलं च तत्र विभजञ्छास्त्रदृष्टेन कर्मणा।'

अपने सेवकों और अनुयायियों के साथ राम का रुख अत्यंत सौहार्दपूर्ण और आत्मीय होता है। हनुमान जैसे सहायक को, जिसने अपने जीवन के सुनहले वर्ष राम की सेवा में लगा दिये और हर संकट के समय अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उनका प्रिय किया, अयोध्या में अपने राज्याभिषेक के बाद विदा करते समय राम की मनःस्थिति का वर्णन वाल्मीकि ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है—राम का गला भर आता है—हनुमान को गले लगाते हुए—वे कुछ कह नहीं पाते। हनुमान का एक एक उपकार उनकी स्मृति में घूम जाता है—वे केवल यह कहते हैं—

"एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्।
मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्।"

"बन्धु तुम्हारा एक एक उपकार ऐसा है जिसका बदला शायद प्राण देकर चुकाया जा सके और प्राण एक बार ही दिये जा सकते हैं—फिर भी मैं तुम्हारा ऋणी ही रहूंगा। अत तुम्हारे उपकारो का एहसान सदा मुझ पर बना रहे यही चाहता [redacted]। ईश्वर न करे उन ऐहसानो का बदला चुकाने की नौबत आये क्योंकि वह नौबत तभी आती है जब दूसरे पर कोई सकट हो और उस समय प्रत्युपकार किया जा सके।" कृतज्ञता की यह भावना भी राम की विशेषता है। उनके लिए प्रसिद्ध है—

'कथमप्युपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणा शतमप्यात्मवत्तया।"

किसी का किया हुआ एक भी ऐहसान उन्हे याद रहता था और किसी के द्वारा सौ अपकार करने पर भी उनमे से कोई उन्हे याद नही रह पाता था।

□

कृष्ण कर्मयोग का सन्देश

इस देश मे ही नही विश्व-भर मे श्रीकृष्ण के चरित्र और जीवन दर्शन की जो छाप विगत हजारो वर्षों से चली आ रही है वसी समूचे विश्व मे शायद दो चार ही व्यक्तियो की होगी। कृष्ण के चरित्र का इतना व्यापक, कालजयी और विश्व-विजयी प्रभाव किस कारण हुआ ? भक्ति आदोलन की धाराए दूर दूर तक फलने के कारण चाहे कृष्ण का गोपीजन वल्लभ, नटनागर, वशीवादक, मदनमोहन और रास रचाने वाले स्वरूप का प्रभाव भी बहुत अशो तक फला हो कि तु उनका सबसे अधिक गहरा और व्यापक प्रभाव डालने वाला स्वरूप है गीता के उपदेशक का। सभी तो हजारो वर्षों से उनकी स्तुति मे कहा जाता रहा है कि 'कृष्ण व दे जगद् गुरुम्'। इस जगद्गुरु के मुख से निकली बताई जाने वाली गीता का जितना प्रभाव इस देश मे और बाहर भी रहा है शायद ही किसी ग्रथ का इतना व्यापक प्रभाव रहा हो। विशेषता यह है कि यह ग्रथ बाइबिल या कुरान की तरह कोई धम ग्रथ नही रहा, यह शुद्ध दशन का ग्रथ है पर उसकी गणना पवित्र से पवित्र धर्म ग्रथ की तरह विश्व मे की जाती रही है। इसका क्या कारण है ?

यदि गहराई से सोचा जाय तो गीता के उपदेशो का वह रूप आज सभी देशो और कालों मे खरा उतरता है जिसमे मानव जीवन को सच्ची और हर दृष्टि से खरी उतरने वाली शिक्षा देने वाला चितन निहित है। इस चितन की विशेषता यह है कि इसने कोई नया माग या पथ नही चलाया बल्कि जिस समय गीता लिखी गई उस समय तक इस देश मे चल रही समस्त दशन शाखाओ का सार लेकर उनका मानव जीवन के लिए उपयोगी ऐसा सम वय कर दिया गया जो तब से लेकर आज तक इतना खरा उतरता रहा कि इस देश को किसी दूसरे दशन की आवश्यकता नहीं पडी। यदि कोई यह पूछे कि इस समूचे जीवन-दशन का वह कौन सा पक्ष है जिसे एक शब्द मे समाहित कर बतलाया जा सकता हो तो यह नि सकोच कहा जा सकता है कि वह है गीता का निष्काम कमयोग।

यह निष्काम कमयोग क्या है इसे जानने के लिए यदि हम एक विहगम दृष्टि भारत के प्राचीन दार्शनिक इतिहास की ओर डालें तो सारा चित्र स्पष्ट हो जाएगा। इस देश मे प्राचीनतम ग्रथ वेद के समय दशन और चितन की जो धारा थी उसमे

प्रमुख स्थान उस कर्मकाण्ड का था जो विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किए गए यज्ञों का स्वरूप लिए हुए थी। कर्मकाण्ड के इस लम्बे प्रभाव की प्रतिक्रिया के रूप में गंभीर दार्शनिक चिन्तन की एक ऐसी धारा चली जो एक अदृश्य सत्ता को मानव-मात्र की नियति का नियामक मानती थी और यह बतलाती थी कि आत्म चिन्तन, मनन और बौद्धिक अनुशासन से ही परम-तत्त्व का ज्ञान हो सकता है, सांसारिक कर्मों से नहीं। इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन की अनेक धाराएं देश में पनपीं जिनमें उपनिषदों का स्थान प्रमुख था जिसके अनुसार उस अदृश्य सत्ता को ब्रह्म का नाम दिया गया था। यह सारा जगत् उसी का रूप है सारे प्राणी उसी से पैदा हुए हैं और उसी में समा जाएंगे। सारा दृश्य जगत् असत्य है और ब्रह्म का ही रूप है। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा देश गंभीर चिन्तन तपस्या और मनन में लग गया। दर्शन की कुछ नई धाराओं ने यह समझाया कि सांसारिक कर्म आत्मा को जकड़ने वाले ऐसे बन्धन हैं जो आत्मा को अनन्त दुःखों में फंसाये रहते हैं। संसार में रहना है तो कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता और कर्म का स्पर्श भयंकर दुःख का कारण है। जैन दर्शन के इस सिद्धान्त के कारण समाज में कर्म से ऐसा भय व्याप्त हो गया कि कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने की भांति भांति की विधियां खोजी जाने लगीं। शरीर को कष्ट देकर तपस्या द्वारा मुक्ति पाना बहुत पुण्य कार्य माना जाने लगा। इससे विरक्ति फैलने लगी। यद्यपि कर्म से और संसार से विरक्त होकर भाग जाने वाले चरम निवृत्ति मार्ग और संसार में विविध कर्मों द्वारा सफलता पाने वाले प्रवृत्ति मार्ग के बीच का मध्यम मार्ग निकालकर भगवान् बुद्ध ने एक नई दिशा देने का प्रयत्न किया पर समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त विभिन्न चिन्तन धाराओं का उतना समन्वय नहीं हो सका जितना देश की दार्शनिक निधि को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक था। ऐसे समय में समस्त चिन्तन धाराओं का समन्वय घोर आंगिरस ने किया और द्वैपायन कृष्ण ने अपने अद्भुत महाकाव्य महाभारत में भगवान् कृष्ण के मुंह से कहलवाया। इस समन्वित दर्शन की सबसे बड़ी देन थी एक ऐसा योग जिससे संसार से भागे बिना, कर्मों से डरे बिना संसार में रहा जा सके और सांसारिक बन्धनों से छुटकारा भी पाया जा सके। इसे ही निष्काम कर्मयोग या अनासक्ति योग कहा गया है।

गीता में चाहे कर्म मार्ग का विवरण दिया गया हो या ज्ञान मार्ग का या भक्ति मार्ग का उन सबके मूल में यही योग है। कृष्ण का मुख्य संदेश ही यह है कि चाहे किसी भी मार्ग का अनुसरण करो उसकी विधि या टैक्नीक या जीवन जीने की कला यही होनी चाहिए। उन्होंने तो योग को जीने की कला ही बतला दिया। 'योगः कर्मसु कौशलम्'। यह अनासक्ति योग है क्या? एक वाक्य में तो इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि संसार से और कर्मों से भागने की आवश्यकता नहीं है किन्तु उनमें लिप्त होना भी अकल्याणकर है। इसीलिए कर्म करते रहो पर उनमें

आसक्ति मत रखो। काम करो और फल की इच्छा मत रखो–शब्दो मे तो यह बात बडी सीधी और सरल लगती है पर इस ज्ञान मार्ग पर चला कैसे जाय ? गीता मे विविध मार्गों से इसी उद्देश्य की पूर्ति का व्यावहारिक उपाय बतलाया गया है। जिन स्थितियो मे गीता का उपदेश दिलवाया गया है वह स्थिति भी ऐसी है जो मानव के जीवन मे हर घडी आती रहती है। अर्जुन के मन मे यह द्वन्द्व जागता है कि वह अपने ही बन्धुओ से युद्ध कैसे करे उनका वध कैसे करे। अहिंसा और हिंसा का द्वन्द्व होता है। कर्म और कर्मसंन्यास के बीच संघर्ष खडा होता है। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि कर्म करते ही उससे उत्पन्न पाप से तुम लिप्त हो जाओगे तो कोई कर्म ही इस दुनिया मे न हो। जीवन का नाम ही संघर्ष है। वह समाप्त हो जाय तो विश्व की व्यवस्था ही न चले। पर क्या विश्व की व्यवस्था चलाने के लिए स्वार्थ की होड और आपाधापी शुरू कर दी जाय ? कृष्ण ने इसी के बीच का मार्ग बतलाया। उन्होने कहा कि कोई व्यक्ति चाह कर भी कर्म से विरत नहीं हो सकता। हर क्षण कर्म तो करना ही होगा। प्रत्येक कर्म से बन्धन होता हो वह बात नही है। कर्म करके उसके फल की इच्छा से ही मन का बन्धन पैदा होता है। इसीलिए जो आपके लिए निर्धारित कर्म है उसे करना और उससे फल की आशा न करना ही सच्चा योग है— कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

पर ऐसा किस प्रकार हो ? कर्म करते जाय और फल की आशा न रखें ऐसी नट-विद्या किस प्रकार सिद्ध हो ? जिस प्रकार प्रारम्भ से अंत तक मनुष्य अभ्यास और श्रम द्वारा अनेक योग सीखता है उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग का सीखना भी असंभव नही है। दो पैरो पर चलना हमे आज कितना सहज और सरल मालूम होता है। पर क्या हमे बचपन के उन दिनो की याद है जब हमारी माताए हमे दो पैरो पर चलना सिखाती थी ? उस समय कितना असंभव लगता था यह। अभ्यास और कर्मयोग से ही तो यह संभव हुआ है। यह कर्मयोग न हो तो कुछ भी संभव नही। तभी गीता का ▮ धार्मिक संदेश सर्वप्रथम यही रहा कि संन्यास और कर्मयोग दोनो ही कल्याणकारी हैं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से कर्म-संन्यास की बजाय कर्मयोग अधिक विशिष्ट है। व्यावहारिक दृष्टि से इस कर्मयोग के अनेक उपाय बतलाये गए। जो ज्ञानी हैं उन्हें कहा गया कि इस प्रकार का आत्म चिन्तन करो कि आत्मा अविनाशी है और मृत्यु केवल उसका चोला बदलना ही है। शरीर क्षण भंगुर है और यह समस्त जगत् भी क्षणिक है। तुम्हारी स्वय की सत्ता इस जगत् मे समुद्र मे बूंद की भांति है। ऐसे अनन्त पुरुष, अनन्त देशो और अनन्त कालो मे घूमते और कर्म करते रहे हैं अकेले तुम ही नही हो। यही रहस्य है कृष्ण के विराट रूप को देखने का। हमारा जो ब्रह्माण्ड है वैसे अनेक ब्रह्माण्ड उस विराट पुरुष मे समाय हुए हैं। हमारे जैसे अनन्त व्यक्ति, अनन्त ऐश्वर्यशाली राजा और अनन्त सम्पत्तिशाली धनिक कीडो

की तरह आते जाते रहते हैं। यह सब आत्म चिन्तन आपको अपने अहंकार से और अपने घर बार से, धन सम्पत्ति से, ममत्व न होने देगा। इस ममत्व से मुक्ति के बहुत व्यावहारिक उपाय गीता मे हैं। सारे सासारिक कुकर्म लालसा या तीव्र इच्छा से होते हैं। इनका बहुत सुन्दर दुष्चक्र बताया गया है। काम यानि इच्छा से क्रोध क्रोध से मतिभ्रम और उस मतिभ्रम से अन्य अनेक कुकर्म करने की प्रेरणा और अन्त मे विनाश। इस सबसे बचने का उपाय है अनासक्ति। काम करते रहने और उससे होने वाले लालच को छोड देने का जीवन का अभ्यास ही यह योग है।

जिन्हे इस प्रकार के चिन्तन और मानसिक अनुशासन का पात्र नही समझा गया उनके लिए एक सरल मार्ग बतलाया गया जिसे भक्ति मार्ग कहा जा सकता है। यदि प्रयत्न करने पर ममता और लालसा नही छूट रही हो तो अपने आराध्य के प्रति इतने समर्पित हो जाओ कि यह सब उनका है—यह मानकर चलो। सब धर्मों को छोड दो और ईश्वर की शरण मे चले जाओ। शरणागति का यह सिद्धान्त भी उसी अनासक्ति के जीवन दर्शन का एक व्यावहारिक पक्ष है। अपना सब कुछ उसका ही है यह मानते ही अपनी वस्तुओ के प्रति आसक्ति क्या कम नही होगी ? मैं तुम्हे सब पापो से मुक्त करूगा, तुम्हारा योगक्षेम मैं वहन करूगा ये सब घोषणाए इसी हेतु हैं कि व्यक्ति पाप के भय से कर्म से विरत न हो किन्तु साथ ही-साथ अपने सासारिक स्वार्थ के कारण इतना सचय न करने लग जाय कि समाज ही विश्रृखलित हो जाय।

कर्म की इस कला के अनेक व्यावहारिक उपायो मे से एक आज की स्थितियो मे बहुत सटीक बठता है। आज हम बहुधा अपने काम की ओर न देखकर दूसरे के काम की ओर देखते है और यह सोचते हैं कि मैं यह काम उससे अधिक अच्छा कर सकता हू। अनेक सकट इसी से पदा होते हैं। निष्काम कर्मयोग म यह सबसे बडी बाधा है। गीता ने कहा कि जो काम तुम्हारे लिए नियत किया गया है उसे चाहे तुम सर्वांगपूर्ण न कर पाओ और दूसरे का काम चाहे अधिक अच्छा कर पाओ तो भी वसा न करो। स्वधर्म का आचरण ही हर दृष्टि से श्रेष्ठ है। परधर्म का आचरण, चाहे वह कितना ही अच्छा किया जा सकता हो नहीं करना चाहिए। आत्मानुशासन के इसी प्रकार के अनेक उपाय बताये गए। केवल पहाडो की गुफाओ मे बठकर ही तपस्या की जा सकती हो सो बात नही है जीवन मे तन-मन और वाणी की तपस्या भी की जाती है। किसी को पीडा न पहुचे इसका ध्यान करते हुए सत्य और प्रिय वाणी बोलना वाणी की तपस्या है, मन मे स्वच्छता रखना, कम बोलना और किसी के प्रति दुर्भाव न रखना मानस तप है। इसी प्रकार सात्विक भोजन और नियमित आहार विहार इन सबका सतुलित मार्ग बतलाकर सासारिक कर्म को

कर्त्तव्य मानकर करना और उसके ममत्व बंधन में लिप्त न होने का जो योग बतलाया गया वह गीता की ऐसी देन थी जिसका प्रभाव कभी क्षीण नहीं हुआ। गांधीजी ने सारे जीवन में सत्य का प्रयोग इसी योग के पद चिन्हों पर किया। तिलक ने इसी कर्मयोग को देश के लिए अद्भुत प्रेरणा देने वाली शंखध्वनि बतलाया। आज योग या योगा की जो धूम मची हुई है उसके कोलाहल के बीच चाहे हम गीता के इस निष्काम कर्मयोग या अनासक्ति योग का महत्व न समझ पा रहे हों पर यही उसकी सबसे बड़ी देन है जो हजारों वर्षों से करोड़ों व्यक्तियों को सही जीवन जीने की कला सिखाती आई है।



मगल· ''भारतीय परम्परा की नजरो मे

कुछ वप पूव अमेरिका से प्रेषित वाईकिंग नामक उपग्रह मगलग्रह पर उतरा था और वहा के चित्र उसके पृथ्वी तक भेजे थे। इस युगान्तरकारी घटना ने भारत की मगलग्रह सबधी अनेक पुरातन मान्यताओ को झकझोर दिया था। जसे चन्द्रमा पर मानव की विजय ने कवियो की कल्पनाओ के महलों को ढहा दिया था उसी तरह मगल की विजय भी अनेक धार्मिक परम्पराओ को हिला देगी ऐसा लगता है। मगल का सबध भारतीय परम्परा मे धम, ज्योतिष और पुरा कथाओ से बहुत गहरा है। आइये आज हम एक नजर इस पर डालें कि भारत के पुराण पथियो ने कब कब किस किस रूप मे इसे देखा है।

वेदो मे

अति प्राचीनकाल से ही भारतीय मनीषियो ने सम्पूण खगोल की बड़ी सूक्ष्मता से छानबीन की थी। ऐसा लगता है कि वदिक कालीन ऋषियो ने सौर मडल के 7 ग्रहों का परिचय प्राप्त कर लिया था। पूव वदिककाल मे मगल ग्रह का अलग से कोई नाम नही मिलता किन्तु सप्त आदित्या ' कहकर सूय और अन्य 6 ग्रहा का उल्लेख वहा किया गया है। राहु और केतु अलग से कोइ ग्रह नहीं हैं वे केवल कोणबिन्दु (नोडल पाइन्ट) हैं। वेदो मे भूमिज नाम अवश्य मिलता है जिसे कुछ विद्वान मगल का पर्याय मानते हैं किन्तु अधिकाश इसे ग्रहवाची नही मानते। मगल नाम वेदो मे नही है, उत्तरवदिक काल मे बोधायनश्रोत सूत्र का एक आचाय अवश्य ही मगल नाम का था।

वस्तुत इस ग्रह का मगल नाम बहुत बाद मे पडा। इसका सबसे पुराना नाम तो है अगारक। प्राचीन महर्षियो ने आकाश मे दहकते अगारे जसे इस लाल ग्रह को देखकर ही यह नाम रखा होगा। इसके अन्य नाम हैं भौम कुज आदि– जिनका अथ होता है पृथ्वी पुत्र। प्राचीन भारतीय साहित्य मे दो परम्पराएँ हमारे पुराशास्त्र की विशेषताएँ हैं। एक तो प्रत्येक ग्रह देव रस राग, छन्द या तत्त्व आदि का मानवीकरण और दूसरे प्रत्येक तत्व का वशावली के रूप मे विवेचन। हमारे यहा नदियो प्राकृतिक तत्वो, ग्रहो और ग्रन्थों, रागो और रसों तक का

स्वरूप मनुष्य के रूप मे सागोपाग रूपक द्वारा वर्णित किया गया है। इसके अलावा प्रत्येक ग्रह और तत्त्व को माता-पिता और वश के साथ भी जोड़ा गया है। यह सब प्रतीक परम्परा का अग है। बुध ग्रह को चद्रमा का पुत्र बतलाना और मगल को पृथ्वी का पुत्र बतलाना इसी परम्परा का अग है। चद्रमा बुध और मगल ये तीन ग्रह ही ऐसे हैं जो पृथ्वी की अपेक्षा आकार मे छोटे हैं। यह रहस्य पुराणो को विदित था इसलिए मगल को पृथ्वी से निकला उसका बेटा बताया गया और बुध को जो सबसे छोटा ग्रह है पृथ्वी के उपग्रह चद्रमा का बेटा बताया गया।

पुराणो मे भौम और कुज के नाम के साथ साथ मगल नाम भी इसका रख दिया गया, उसका कारण यही प्रतीत होता है कि यह ग्रह सामान्यत क्रूर और अमगलकारक माना जाता था। उस अनिष्ट के निवारण के लिए इसे मगल वाची नाम दे दिया गया। अमगल को मगलवाची नाम देने की यह परम्परा भारत मे बहुत पुरानी है।

लाल रग

मानवीकरण की परम्परा के अनुसार इस ग्रह को न केवल पुराणो बल्कि ज्योतिष ग्रथो मे भी मानव स्वरूप दिया गया। प्रत्यक तत्त्व, प्राकृतिक घटना को ही नही पहाडो और नदियो को भी मानव स्वरूप मे देखना भारतीय परम्परा का एक विशिष्ट प्रतीक है। मगल ग्रह को मेढे (मेष) पर बठे हुए एक योद्धा के रूप मे चित्रित किया गया है जो लाल रग का है और चमकीला और आग की तरह दहकता हुआ है। हमारे यहा लाल रग योद्धा का प्रतीक माना गया है। मरव हनुमान, गणेश आदि योद्धा के रूप मे चित्रित देवो को सिंदूर से लाल रगने की प्रथा इसी का प्रतीक है। सिंदूर को वीरालकरण कहा गया है। ज्योतिष ग्रथो ने ग्रीक ग्रथो की परम्परा को शामिल करते हुए इस ग्रह का बहुत वैज्ञानिक विवेचन दिया है और ईसा की सातवीं शताब्दी तक आते-आते ग्रह के रूप मे इसका अच्छा विवेचन उपलब्ध होता है। फिर भी पुराण काल की पुराकथाओ और मिथको की परम्परा के प्रभाव के कारण ज्योतिषी भी इसे अग्नि, युद्ध, दुघटना और आतक का देवता मानते हैं। इसकी दशा मे आग लगना एक्सीडेंट होना युद्ध या राज्य पद की प्राप्ति का फल बताया जाता है। यूनान मे भी मगल (मार्स) को योद्धा और लाल रग का देवता माना गया है और ऐसा ही फल इसका बतलाया गया है।

पुराणों मे

भारत की एक अन्य परम्परा के अनुसार ग्रहो के वश और माता पिता तथा उत्पत्ति का वर्णन प्रत्येक पुराण में दिया जाने लगा था। हमारे यहां प्रत्येक नदी पहाड और देवताओ की पैतृक वशावली पुराणो मे है जो इसी

परम्परा की कड़ी है। पद्मपुराण में यह कथा है कि घूमते हुए विष्णु के पसीने की एक दहकती हुई लाल बूंद के गिरने से लाल रंग का एक तेजस्वी बालक पैदा हुआ। बालक ने तपस्या द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर आकाश में चिरस्थायी बनने का वर प्राप्त किया। यही बालक आजकल मंगल ग्रह है। मत्स्य पुराण के अनुसार महादेव शिवजी का प्रमुख गण (योद्धा) वीरभद्र ही मंगल ग्रह है। दक्ष यज्ञ के विध्वंस के बाद शिव ने उसे आकाश में भेज दिया और कहा कि चतुर्थी के दिन जब मंगलवार हो तो उस दिन तुम्हें प्रसन्न करने के लिए व्रत किया जाएगा। इस व्रत से समस्त इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं, ऐसी फलश्रुति है। ब्रह्मवैवर्त पुराण कहता है कि पृथ्वी से विष्णु के द्वारा उत्पन्न किया हुआ कुमार ही मंगल है। विष्णु के तेज को सहन न कर सकने के कारण पृथ्वी ने उसे मूंगे (लाल रत्न) के ढेर में डाल दिया था, इससे वह लाल हो गया। वामन पुराण के अनुसार शिवजी जब अंधकासुर से युद्ध कर रहे थे तो उसका खून पीने के लिए उन्होंने एक बालक पैदा किया जो बाद में ग्रह बन गया। यही मंगल ग्रह है।

पुराणों में एक विचित्र बात यह भी मिलती है कि मंगल को ऋणहर्ता ग्रह बताया गया है। उसके स्तोत्र पढ़ने और उसके दिन व्रत करने से कर्जा कभी नहीं होता।

मंगलवार का व्रत

यद्यपि वारों के अनुसार काल गणना भारत में बहुत पुरानी नहीं है, प्राचीनकाल में नक्षत्र ही काल मान हुआ करते थे किंतु बाद में यूनान के प्रभाव से वारों का प्रचलन यहां भी हुआ, तथापि पुराणकाल में वारों का प्राबल्य स्पष्ट मिलता है। आज भारत भर में मंगलवार का व्रत करने की जो परम्परा है उसका मूल पुराणों में मिलता है। स्कंद पुराण और मत्स्य पुराण में 'अंगारक व्रत' का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। विशेषकर कृष्णपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी या चतुर्थी के साथ मंगलवार हो तो उसका अधिक फल बतलाया गया है। इस लिहाज से मंगलवार का व्रत कम से कम 1000 वर्ष पुराना है।

एक आश्चर्यजनक संयोग यह है कि मंगलवार को हनुमानजी की विशेष पूजा होने के कारण हनुमान से इसका संबंध वर्षों से जुड़ा हुआ है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि लाल रंग के इस ग्रह को योद्धा के रूप में चित्रित करने के कारण प्रत्येक योद्धा देवता के साथ इसका तालमेल बैठाया गया। सबसे पुराने योद्धा कार्तिकेय का रूप इसी को माना गया, फिर वीरभद्र और अब हनुमान के रूप में इसकी पूजा होने लगी है। इसलिए मंगलवार को हनुमान का वार माना गया। इसका एक अन्य कारण भी है। एक परम्परा के मुताबिक हनुमान का जन्म कार्तिक

कृष्ण चतुर्दशी मंगलवार को हुआ था। इस प्रकार मंगलवार हनुमान का जन्मवार हुआ। दूसरी परम्परा चैत्र शुक्ला चतुर्दशी सोमवार को उनका जन्म मानती है। वैसे चतुर्दशी के साथ मंगलवार को पारम्परिक महत्त्व का योग माना जाता है।

ज्योतिष के मुताबिक मंगल ग्रह क्रूर ग्रह होने के साथ साथ ऐश्वर्य का कारक भी है। इसकी गति शनि और बृहस्पति की अपेक्षा अधिक तेज है। इसलिए चन्द्रमा के बाद यदि किसी ग्रह का मानव जीवन पर निकट और तीव्र प्रभाव पड़ता है तो वह मंगल का है। प्रत्येक ग्रह के रंग के मुताबिक रत्न पहनने का भी विशेष फल हमारी परम्परा मे है। यह परम्परा केवल भारत की ही नहीं सारे विश्व की प्रचलित परम्परा है। मंगल का मानवाकृति स्वरूप भी सभी प्राचीन सभ्यताओं मे समान सा मिलता है। केवल व्रत की परम्परा भारत की अपनी है। मंगल ग्रह के भौतिक स्वरूप को टेलीविजनो पर और समाचार-पत्रो मे देखने वालो को बहुत सी पुरानी मान्यताएँ निराधार लगने लगें यह स्वाभाविक है किन्तु उसका रंग, उसमे पार्थिव तत्त्वो (चट्टान मिट्टी आदि) का पाया जाना, उसे पृथ्वीपुत्र मानने की परम्परा, ये सब उसके वैज्ञानिक स्वरूप के इतने अनुरूप पाये जाते हैं कि पुरानी मान्यताएँ निराधार हो ऐसा नही कहा जा सकता। आज पृथ्वी के पुत्र ने इस पृथ्वी पुत्र पर विजय पाकर अपने को इसका बड़ा भाई साबित कर दिया है किन्तु उसमे जीवन की खोज अब भी जारी है।



नक्षत्र जो देव बन गये

भारतीय संस्कृति में वेदकाल से लेकर अब तक देवताओं की जो अवधारणा रही है उसकी यह विशेषता है कि किसी अलौकिक या अनजाने रहस्य को देवता मानने की बजाय हमने प्राकृतिक तत्त्वों या महामानवों को देवता के रूप में पूजा है। वेदकाल का ऋषि सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक तत्त्वों को देव कहता है। पुराणकाल तक आते आते राम और कृष्ण जैसे महामानव देवत्व प्राप्त कर लेते हैं और मध्यकाल में तो नागपंचमी के दिन सांपों की और वट जैसे वृक्षों की पूजा जन्तुओं और पेड़ों को भी देवता बना देती है। विद्वानों का मानना है कि वैदिककाल के प्रारम्भ में भौतिक प्राकृतिक तत्त्वों को देव रूप में देखा गया था और धीरे धीरे उन प्रतीकात्मक देवों का वैज्ञानिक रूप विकसित हुआ। वैदिक देवताओं की अवधारणा को बृहदारण्यक उपनिषद् का एक रोचक आख्यान भलीभांति स्पष्ट कर देता है। महर्षि याज्ञवल्क्य से शाकल्य पूछते हैं कि देवता कितने हैं। याज्ञवल्क्य इसका उत्तर विविध प्रकार से देते हैं। वे कहते हैं देवता एक भी है डेढ़ भी, तीन-छः, तैंतीस तेतीस हजार और तैंतीस लाख भी। इनका निर्वचन वे यों करते हैं। वस्तुतः प्राण ही एक देवता है। प्राण से उत्पन्न भूत को भी यदि देव माना जाए तो इस प्रकार डेढ़ देवता हो जाते [illegible]। फिर पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीन देवता हैं। इन तीनों के साथ इनके अधिष्ठाता अग्नि, वायु और सूर्य को मिलाकर देवता 6 हो जाते हैं। फिर 8 अग्नि जिन्हें वसु कहा गया है, 11 वायु जिन्हें रुद्र कहा गया है और 12 आदित्य मिलकर 31 हो जाते हैं तथा इनके साथ प्रजापति और इन्द्र को मिलाकर 33 देवता हो जाते हैं।

इस प्रकार उपनिषद् काल तक इन वैज्ञानिक तत्त्वों को ही प्रमुखतः देव माना गया था। प्रजापति और इन्द्र के स्थान पर कभी कभी प्रजापति और वषट्कार का नाम भी लिया गया है कहीं द्यावापृथिवी का और कहीं अश्विनों का। स्पष्ट है कि ये सब वैज्ञानिक तत्त्वों के प्रतीक देवता हैं। इनमें अश्विनौ या अश्विद्वय के रूप में जाने जाने वाले देवता एक विशिष्ट स्थान रखते हैं जो परवर्ती पौराणिक काल में अश्विनी कुमारों के रूप में विख्यात हुए।

ये दो देवता वेदकाल से ही बहुत रुचिकर वर्णन के विषय रहे हैं। ऋग्वेद में इनका वर्णन बड़ा चमत्कारपूर्ण पाया जाता है। इनके लिए लगभग 50 सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं। ऋग्वेद का ऋषि इन्हें स्वर्णिम प्रभात के पूर्व दो घोड़ों से जुते रथ में बैठकर आने वाले तीव्रगामी जुड़वा भाइयों के रूप में वर्णित करता है। ये चिर युवा हैं परम सौन्दर्यवान् हैं तथा वृद्धों को युवा बना सकते हैं। इनका वर्णन हमेशा द्विवचन में किया गया है। ऋग्वेद में इनके साथ अनेक कथाएं जुड़ी बताई गई हैं। इन्होंने अपने द्रुतगामी अश्वों की सहायता से जल में डूबे हुए भुज्यु ऋषि को उबारा था च्यवन के बुढ़ापे को हटाकर उसे युवा बनाया था, अनेक राजाओं की सहायता की थी, अनेक अन्धों को नेत्रदान किया था, अत्रि को ज्योति दी थी प्रेमी युगलों को मिलाया था तथा ऐसे अनेक चमत्कारी कार्य किये थे। 'युवं च्यवानं जरसो मुमुक्तं निप्रेदव अहथुराशुमश्वम्। निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः।' इस ऋचा में भी इनके चमत्कारी कार्यों का बखान है। इन सब कार्यों का ऐतिहासिक आधार क्या है यह कहा नहीं जा सकता किन्तु इनका जो स्वरूप ब्राह्मणों और भाष्यों में वर्णित है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम अश्विनी कुमारों की अवधारणा उस नक्षत्र के दृश्य स्वरूप को लेकर बनी होगी जिसे आज अश्विनी नक्षत्र कहते हैं। नक्षत्र गणना की एक पद्धति में जो अश्विनी-भरणी, कृत्तिका और रोहिणी से शुरू होती है यह सर्वप्रथम नक्षत्र है। चमकदार अश्व के आकार के दो नक्षत्रों को देखकर ही इस नक्षत्र के अधिष्ठाता देवता के रूप में घुड़सवारों की कल्पना की गई होगी।

यह माना जाता है कि प्राचीनतम विज्ञान खगोल विज्ञान ही था और भारत में ऋषियों को नक्षत्रों के विज्ञान ने ही सबसे पहले प्रभावित किया था। इससे भी अनुमान होता है कि सर्वप्रथम अश्विनी नक्षत्र को ही अश्विनी कहा गया होगा। निरुक्त ने इनमें से एक को निशा का पुत्र बताया है तथा दूसरे को उषा का। इनके आगमन का समय उषाकाल तथा सूर्योदय के मध्य बतलाया गया है। इस सब से भी ये अश्विनी नक्षत्र के प्रतीक देवता के रूप में सामने आते हैं। हो सकता है इन नक्षत्रों का मानवीकरण करने की प्रक्रिया में इन्हें जुड़वा भाइयों का स्वरूप दे दिया गया हो तथा बाद में इनके साथ अनेक गाथाएं भी जुड़ती गई हों। अश्विनी कुमारों के नामों में नासत्य अर्थात् सत्यभाषी और दस्र अर्थात् विचित्र कार्य करने वाले ये दो नाम इनकी प्रकृति के परिचायक हैं। बाद में जाकर पुराणकाल में इनका स्वरूप कुछ परिवर्तित होता है जहां इन्हें विश्वकर्मा की पुत्री अश्विनी में सूर्य के द्वारा उत्पन्न किये पुत्रों के रूप में देखा गया है। महाभारत में तो पाण्डु की पत्नी कुन्ती द्वारा चाहे जाने पर उसके गर्भ में नकुल और सहदेव का आधान कर इन दो पाण्डवों को जन्म देने वाले देवताओं के रूप में इन्हें पर्याप्त प्रमुखता दे दी गई।

इस दृष्टि से कुन्ती पुत्रों के पिता के रूप में सूर्य, यम, वायु और इन्द्र का जो महत्व है उतना ही अश्विनी कुमारों का भी माना गया।

इस पुराणकाल से पूर्व इनके स्वरूप की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि वेदकाल से ब्राह्मणों और उपनिषदों तक आते आते इनका स्वरूप अधिक व्यापक होता गया और ये प्रातःकाल उदित होने वाले नक्षत्रों से बढ़कर पृथ्वी और आकाश की समन्वित सत्ता अर्थात् द्यावापृथिवी के प्रतीक के रूप में वर्णित किए जाने लगे। आजकल भी पूजा आदि के समय एक मंत्र बहुधा बोला जाता है जिसमें इनका यह स्वरूप स्पष्ट है

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपं अश्विनौ व्यात्तम्'

इस मंत्र में जिस विराट पुरुष की कल्पना की गई है उसकी पत्नियां श्री और लक्ष्मी हैं, रात और दिन उसके पसवाड़े हैं, नक्षत्र उसके रूप हैं और अश्विनी कुमार उसकी जमुहाई हैं। जब वह फैल जाता है तो पृथ्वी से लेकर आकाश तक उसी का विस्तार दिखाई देता है। द्यावापृथिवी के रूप में अश्विनी कुमारों के इस प्रतीकात्मक निर्वचन को स्पष्ट करते हुए शत पथ ब्राह्मण कहता है

इमे ह द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्'
(4/1/5/16)

अर्थात् द्यावापृथिवी ही प्रत्यक्ष अश्विनी कुमार हैं जो सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार उपनिषदों में अश्विनी कुमारों का दार्शनिक स्वरूप पृथ्वी और आकाश का समन्वय करने वाले दिव्य और चमत्कारी देवता का है। इससे पूर्व वेदकाल में चाहे अश्विनी कुमारों एक प्रमुख एवं चमत्कारी कथाओं के नायक देवता के रूप में स्थापित हो गये हों किन्तु उनकी मूल अवधारणा आकाश में चमकने वाले दो नक्षत्रों से उद्भूत हुई ऐसा वेद विद्या के आधुनिक विद्वानों का मनाना है। एक विद्वान् (श्री दीक्षित) की यह मान्यता है कि गुरु और शुक्र के पास पास देखे जाने वाले तारों के आधार पर ही जुड़वा अश्विनी कुमारों की अवधारणा उत्पन्न हुई होगी जबकि एक अन्य विद्वान् प्रातःकाल दिखलाई देने वाले नक्षत्र पुंज नीहारिका को अश्विनी कुमारों की कल्पना का आधार मानते हैं। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि विद्वानों की दृष्टि में अश्विनी कुमार केवल आख्यानों के देवता नहीं हैं बल्कि किसी वैज्ञानिक तत्व के प्रतीक हैं। एक आधुनिक विद्वान् ने तो तर्कपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अश्विनी कुमार विद्युत् के धनात्मक और ऋणात्मक दो छोरों के प्रतीक हैं अर्थात् निगेटिव और पोजीटिव बिजली के तत्त्व ही वेदों में अश्विनी कुमार कहे गये हैं तभी इनके साथ द्विवचन मिलता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सवप्रथम उषाकालीन नक्षत्रो के अधिष्ठाता के रूप मे वर्णित ये अश्विनी देवता धीरे धीरे देवताओ के वैद्य के रूप मे स्वास्थ्य, सौन्दय, यौवन और सामथ्य के देवता माने जाने लगे और वृद्धो को यौवन देने, रोगियो को भला-चगा करने नेत्रहीनो को ज्योति देने, प्रेमियो को मिलाने, कन्याओ का विवाह कराने और डूबे हुओ को उबारने जैसे अनेक चमत्कारो के इनके साथ जुड जाने के कारण इनका व्यक्तित्व और भी आकपक बन गया। किन्तु उपनिषद्काल तक आते आते जब वैदिक देवताओ के दार्शनिक स्वरूप की खोज होने लगी तो इन्हें द्यावापृथिवी का प्रतीक माना जाने लगा और उस सर्वोच्च परम सत्ता की विशालता का बिम्ब इनमे देखा जाने लगा। पुराणकाल मे इनका पुन मानवीकरण कर दिया गया अर्थात् इन्हें उपाख्यानो के नायक आकपक देवता और चिर युवा जुडवा भाइयो के रूप मे अनेक चमत्कारी काय करने वाले देव वैद्य के रूप मे चित्रित किया गया और महाभारत के नायक पाडवो मे से दो के जनक रूप मे वे विशिष्ट स्थान के अधिकारी बन गये। इस प्रकार अश्विनीकुमारो का स्वरूप वेदकाल से लेकर पुराणकाल तक एक रोचक सतरगी अध्ययन का विषय है।



4

सामाजिक परिदृश्य

भारतीय सस्कृति मे स्त्रियों का स्थान

भारतीय सस्कृति मे स्त्रियो के स्थान, उनकी प्रतिष्ठा तथा उनकी प्रास्थिति के आकलन के लिए वैदिक वाङ्मय से लेकर क्लासिकल साहित्य तक का सामान्य सर्वेक्षण करना होगा। उससे यह आभास होगा कि प्राचीन भारत म स्त्रियो की प्रतिष्ठा जिस चरम शिखर पर थी, स्थानीय प्रभावो और कभी-कभी अन्य कारणो से उसमे उतार चढाव अवश्य आते रहे किन्तु महिला का महनीय स्थान बराबर बना रहा।

वदिक युग मे स्त्री की प्रतिष्ठा गृहस्थ धम का एक अनिवाय अग होने के कारण 'पत्नी' के रूप मे बहुत अधिक थी। ऋगवेद कहता है, "जाया ही घर है।" गृहस्थ के दनिक अग्निकार्यों मे पत्नी के साथ बठना आवश्यक था। पत्नी के बिना यज्ञकाय नही हो सकते थे, गृहस्थ आश्रम ही नही चल सकता था। इस धार्मिक निर्देश का आधार लेकर भी एक पत्नी का निधन होने के कारण तुरन्त दूसरा विवाह करने को धार्मिक महत्त्व दिया जाने लगा था। यजमान के रूप मे केवल पुरुष यज्ञ मे नही बैठ सकता था। पत्नी के बिना पुरुष अपूर्ण माना जाता था—"असर्वो हि तावद् भवति यावज्जाया न विन्दति'। विवाह के समय सप्तपदी के द्वारा स्त्री, पुरुष के साथ धार्मिक समानता प्राप्त करती थी और मत्रीभाव का करार करती थी - 'सखा सप्तपदा भव।" उसका आजीवन निर्वाह करना पुरुष का कतव्य होता था। जो स्त्रिया अध्ययन करना चाहती थी, उनका उपनयन अर्थात् गुरुकुल मे प्रवेश भी सम्मत मिलता है। वे गायत्री उपदेश एव वेदो की अध्ययन की भी अधिकारिणी बतलाई गई हैं। इसलिये वेदो के अनेक मन्त्रो के द्रष्टा (ऋषि) के रूप मे कुछ ऋषिकाओ का उल्लेख मिलता है। अपाला आत्रेयी तथा रोमशा आदि के अलावा सूय की पुत्री सूर्या भी ऋषिका मानी गई है। मत्रेयी और गार्गी वाचक्नवी वदिक काल की प्रतिष्ठा प्राप्त विदुषियाँ थी। बृहदारण्यक उपनिषद मे मैत्रयी अपने पति याज्ञवल्क्य के साथ दार्शनिक विवाद करती बतलाई गई है। कौशाम्बी में अनेक श्रेष्ठ छात्राए थीं, इसका उल्लेख भी मिलता है। छात्राओ के लिये "अध्येत्री" और 'माणविका' शब्द का प्रयोग मिलता है। कक्षीवान् की पुत्री घोषा काक्षीवती बहुत बडी विदुषी थी। एसा प्रतीत होता है कि उस समय स्त्रियो के लिए भी अलग

विद्यालयो की स्थापना हुआ करती थी। इनमे अध्यापन करने वाली स्त्रियो को आचार्या और उपाध्याया कहा जाता था जबकि आचार्य की पत्नी मात्र होने पर आचार्याणी या उपाध्यायानी आदि। ऐसे व्याकरण सूत्र पाये जाते हैं। यह तो बाद मे हुआ प्रतीत होता है कि "स्त्री-शूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" कह कर स्त्रियो के लिए वेदाध्ययन का निषेध कर दिया गया।

जहा तक सम्पत्ति मे स्त्रियो के स्वामित्व की बात है, दहेज म या उपहार मे प्राप्त धन को स्त्रीधन' कह कर उस पर स्त्री का अधिकार तो वदिक काल से लेकर आज तक चला ही आ रहा है। वदकाल मे स्त्रियो का सपत्ति पर अधिकार मानने की दृष्टि अधिक उदार थी पर वैदिक काल के समाप्त होते होते स्वत त्रता तथा समानता के अधिकारो मे कमी आने लगी। इसका कारण यही था कि समाज के अन्य क्षेत्रो मे भी उसकी उन्नति पर अकुश लगने लग गये थे। गायत्री वाचन, वेदाध्ययन आदि का अधिकार तो समाप्त होने ही लगा, बहुविवाह की प्रथा जो धीरे धीरे बहुप्रचलित होती गई, उनके समान अधिकारो पर कुठाराघात सिद्ध हुआ। यह एक कटु सत्य है कि विश्व के अनेक देशो मे किसी न किसी युग मे स्त्री को सपत्ति मानने की अवधारणा प्रचलित रही होगी। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा और सपत्ति होने के कारण स्त्री को सदा किसी के अधिकार मे रहने सिद्धा त प्रतिपादित किया जाने लगा। वह स्थिति भी आ गई जब आक्रमिता राज्य आक्रान्त राज्य के पराजित हो जाने पर वहा की स्त्रियो को दासियो के समान रख सकता था।

स्मृतिकाल तक आते आते सम्पत्ति मानने की इस अवधारणा को "न स्त्री स्वात न्त्र्यमर्हति" कह कर बचपन मे पिता यौवन मे पति और बुढ़ापे मे पुत्रो के अधिकार मे रहने के सिद्धा त द्वारा दृढ किया गया। इस पिछड़ेपन के सिद्धा त के बावजूद भी स्त्रियो की प्रतिष्ठा के अनेक उदाहरण तथा उसकी परम्परा भारत मे बराबर पाई जाती रही है। अशोक की पुत्री सघमित्रा च द्रगुप्त की द्वितीय पुत्री प्रभावती आदि न केवल विदुषी थी, राजनीति, धम और समाज की नेत्री भी थी। उस समय भी स्त्रियो को अध्ययन के अधिकार थे और विदुषियो का सम्मान था। कुछ भिक्षुणियाँ भिक्षुओ से शास्त्रार्थ करती थी इसका प्रमाण तो मिलता ही है, "थेरीगाथा' मे पचास भिक्षुणियो की रचनाए भी सगृहीत मिलती हैं।

राजनीति में भाग लेने वाली स्त्रियो के उदाहरण के रूप मे च द्रगुप्त की पुत्री का उल्लेख तो किया ही जा चुका है जिसने राजकुमार के अल्पवयस्क होने के कारण स्वय शासन का भार सम्हाला था। किरातार्जुनीयम्' काव्य मे द्रौपदी युधिष्ठिर को राजनतिक सलाह देती पाई जाती है। बौद्ध सस्कृति मे स्त्रियो के लिए विद्यालयों का वर्णन मिलता है। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे लिखा है कि स्त्रियाँ भी कवयित्रियाँ होनी हैं। सस्कृत की उद्भट विदुषी और उत्तम कवयित्रियों

के रूप में विज्जिका शीलाभट्टारिका, विकटनितम्बा आदि इतनी प्रसिद्ध हैं कि इन्हें सरस्वती का अवतार माना जाने लगा था और पुरुष कवियों की कविता इनकी कविता के पासग मे भी नही बठती ऐसे अभिमत दिये जाने लगे थे ।

'काव्यमीमासा' मे राजकन्याए, महामात्रो की कन्याए, अनेक गणिकाए तथा गृहस्थभार्याए शास्त्रनिपुण भी बताई गई हैं। यह तो सुप्रसिद्ध है कि शकराचार्य और मडन मिश्र के बीच जो शास्त्रार्थ हुआ उसके निर्णायक के रूप मे मडन मिश्र की पत्नी भारती बैठी थी जो विदुषी थी। उस समय स्त्रियाँ अध्यापन भी करती थीं। स्त्रीधन का अधिकार उस समय भी उन्हें था। पति की मृत्यु हो जाने पर पुत्रो के अभाव मे पत्नी को सपत्ति का अधिकार देने का विधान भी पाया जाता है। स्त्रीधन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—1 वर से विवाह मे मिले उपहार 2 पति तथा पुत्रो से प्राप्त उपहार तथा 3 वह धन जो पति दूसरा विवाह करते समय उसे अधिकार से वचित करने के मुआवजे के रूप मे देता था। स्मृतिकाल मे भी—"यत्र नार्यस्तु पूज्य ते रमन्ते तत्र दवता" जसी उक्तियाँ स्त्रियो की महती प्रतिष्ठा का आदश प्रमाणित करती हैं जबकि इस काल मे उनके महत्त्व मे वेदकाल की अपेक्षा थोडी कमी आई मानी जाती है।

माता के रूप मे स्त्री को बहुत सम्मान दिया जाता था। यह तो निर्विवाद ही है कि भारतीय सस्कृति मे नारी का जीवन सदाचार एव निष्ठा का मन्दिर आरम्भ से अन्त तक रहा है। उसकी जो महनीय भूमिका आदश चरित्र, त्याग और स्नेह की मूर्ति के रूप मे रही है उसने भी उसे इतना आदर दिलवाया है कि भारत की नारी की प्रतिमा देवी के रूप मे उभरी है।



पिता और पुत्र पीढियो की व्यवस्था

भारतीय समाज मे पति और पत्नी, पिता और पुत्र, गुरु और शिष्य इन सबधो की मर्यादा धार्मिक और शाश्वत सदाचार के धरातल पर इतनी गहरी स्थापित की गई है कि वह हमारी सस्कृति का अभिन्न अग बन गई है। पति और पत्नी की मर्यादा तथा विवाह प्रथा की पवित्रता के सिद्धान्त का सूत्रपात महर्षि दीघतमा और श्वेतकेतु द्वारा किया गया था ऐसा उल्लेख पुराणो मे मिलता है किन्तु पिता और पुत्र के सबधो की परम्परा उससे भी पुरानी प्रतीत होती है। वदिक काल से ही पिता और पुत्र दोनो के पृथक् पृथक् कर्तव्यो और अधिकारो की मर्यादा को एक सुदृढ सामाजिक मूल्य के रूप मे मान्यता दे दी गई थी। पिता का कर्तव्य पुत्र का भरण पोषण ही नही है बल्कि उसकी समुचित शिक्षा-दीक्षा भी उसका दायित्व है। वह उसे गुरुकुल भेजता है और वापस लौटकर उसके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने तक उसकी देखरेख अपना कर्तव्य समझता है। पिता की सपत्ति पर पुत्र का उत्तराधिकार सामान्य रूप से उसका जन्मजात अधिकार ही माना जाता रहा है। चूकि वह अपने पिता की सपत्ति का दाय अर्जित करता है इसलिए स्वभावत यह भी उसके कर्तव्य के रूप मे विहित किया गया कि वह वार्धक्य मे माता पिता की सेवा करेगा और उनकी अत्येष्टि तक ही नही बल्कि उसके बाद भी श्राद्ध के रूप मे उनकी स्मृति का सम्मान करेगा। पितृसत्तात्मक समाज की यह स्वाभाविक मर्यादा चाहे प्रारम्भ में एक सामाजिक करार के रूप मे ही कायम हुई हो किन्तु हजारो वर्षों से यह हमारी सस्कृति मे बहुत गहरी पठी हुई है।

महाभारत मे देवव्रत भीष्म की पितृभक्ति का उदाहरण प्रसिद्ध है। अपने पिता शान्तनु की इस इच्छा को पूर्ण करने के लिए कि उन्हें छोडकर चली जाने वाली पत्नी गगा के एक मात्र पुत्र देवव्रत से यदि उनका वश आगे न चल पाए तो उनका कम से कम एक पुत्र और हो जाय, देवव्रत ने आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करली थी। राजा शान्तनु दाशराज की अनिद्य सुन्दरी कन्या सत्यवती के साथ विवाह करना चाहते थे किन्तु दाशराज उनसे यह आश्वासन चाहते थे कि सत्यवती का पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। उनका यह आग्रह उचित भी था क्योकि उनका कहना यह था कि नीचे के तबको की सुन्दर कन्याओं के साथ

राजा लोग विवाह तो कर लें किन्तु उनकी सन्तानों को पूरा अधिकार न दें तो यह उस तबके के साथ अन्याय है। देवव्रत ने दाशराज की इस आशंका के समाधान के लिए न केवल यह प्रतिज्ञा की कि वे अपना राज्याधिकार छोड़ते हैं किन्तु यह भी प्रतिज्ञा कर ली कि वे आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे ताकि उनके सन्तान होने और उसके द्वारा उत्तराधिकार का दावा करने का प्रश्न ही न उठे।

पिता और पुत्र के संबंधों का सबसे उदात्त-स्वरूप राम और दशरथ के उदाहरण में मिलता है। पिता की आज्ञा के पालन को सर्वोच्च कर्तव्य मानना और उसके लिए स्वयं के हित का और सुख का बलिदान कर देना राम के गुणों में सबसे बड़ा गुण माना जाता है और इस आदर्श ने करोड़ों भारतीयों को इस मर्यादा के पालन की प्रेरणा दी है। जब कैकयी जबरदस्ती दशरथ को राम के वनवास पर सहमत कर लेती है तो इस बात को नितांत अन्यायपूर्ण और मर्यादा के प्रतिकूल मानकर अनेक व्यक्ति राम को सलाह देते हैं, स्वयं दशरथ भी यह चाहते हैं कि वे इसका कुछ विरोध करें और यह भी स्पष्ट है कि राम यदि इसका थोड़ा भी विरोध करते तो यह निर्णय निरस्त हो जाता किन्तु उनका उत्तर यही होता है—"न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्। यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया। नास्ति शक्ति पितुर्वाक्य समतिक्रमितुं मम। अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे। नियुक्तो गुरुणा पित्रा हितेन च नृपेण च।

पिता की सेवा और उनकी आज्ञा के पालन से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। मुझमें उनके वचन का उल्लंघन करने की शक्ति नहीं है। वे पिता ही नहीं मेरे हितैषी और इस देश के राजा भी हैं। उनके कहने पर मैं आग में कूद सकता हूं समुद्र में गिर सकता हूं और जहर भी खा सकता हूं।

इस प्रकार राम ने एक आधारभूत मूल्य के रूप में पिता की आज्ञा के पालन की महत्ता की स्थापना की है। रामायण में ही नीचे तबके के होने के बावजूद अपने माता पिता की निःस्वार्थ सेवा करने वाले श्रवणकुमार का उदाहरण भी इसी की एक कड़ी है। श्रवण तो पितृभक्ति का आदर्श ही बन गया है। अंधे माता पिता से किसी भी लाभ या अधिकार की आशा न होने पर भी कर्तव्य के रूप में वह उनकी निरन्तर सेवा करता था और इसके साथ साथ विद्या अध्ययन भी करता रहता था।

पुत्र की ओर से पिता के प्रति इस प्रकार निष्कपट और बिना किसी शर्त के श्रद्धा और आज्ञाकारिता का यह विधान भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। यद्यपि इस आज्ञाकारिता को अवांछनीय रूप से चरम सीमा तक पहुंचाने वाले उदाहरण भी मिलते हैं जैसे अपने पिता जमदग्नि के कहने पर परशुराम द्वारा अपनी मां का वध कर देना, चाहे उसका स्वरूप और उद्देश्य कुछ

भी रहा हो। पुराणों में सोमशर्मा और देवशर्मा जैसे कुछ पुत्रों के उपाख्यान ऐसे भी मिलते हैं जिनमे उन्होंने पिता की कुछ घृणित और कुत्सित इच्छाओं तक की तृप्ति के लिए बड़े कष्ट झेले और बड़े बलिदान किये। वेदकालीन राजा परम प्रतापी ययाति की कथा को पुराणों मे ऐसा तोड मरोड दिया गया कि यौवन के आनन्दोपभोग की इच्छा से उसने अपने पुत्रों से अपना बुढ़ापा लेकर उनका यौवन विनिमय के रूप मे माग लिया और जिस पुत्र पुरु ने उसे देकर पिता का वार्धक्य स्वय ले लिया उसे ही कनिष्ठ होते हुए भी राज्याधिकार मिला। प्रत्येक समाज मे ऐसे चरम स्थितियों के कुछ उदाहरण मिल सकते हैं किन्तु यह उल्लेखनीय है कि ऐसे उपाख्यान अव्यावहारिक उपदेश मात्र ही थे।

प्राचीन साहित्य मे जिस प्रकार आज्ञाकारी पुत्र को आदर्श माना जाता था उसी प्रकार पुत्र के प्रति पिता के तीव्र एव निश्छल उत्कट प्रेम को भी एक आदर्श के रूप मे चित्रित किया गया है। नीति शास्त्रों मे पिता के लिए पुत्र को इतना योग्य बना देना आवश्यक बतलाया गया है कि वह अपने गुणो द्वारा अपने पिता को भी मात कर दे। 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्, पुत्रादिच्छेत् पराभवम्''। अपने पुत्र को अपने से भी अधिक योग्य बनाकर पिता को गर्व होता था।

जिस प्रकार राम की आज्ञाकारिता आदर्श के रूप मे वाल्मीकि ने चित्रित की है उससे भी अधिक उल्लेखनीय है राम के प्रति दशरथ का निश्छल और निःस्वार्थ स्नेह। अपनी मजबूरी के कारण दशरथ राम को वन भेजने पर सहमत तो हो जाते हैं किन्तु उसके साथ ही उनकी जो दशा होती है उसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण वाल्मीकि ने किया है। अपने वचन को झुठलाने मे वे समर्थ नहीं हो पाते किन्तु वे चाहते हैं कि किसी तरह राम को वन नही जाना पड़े। कैकयी को भी वे भला बुरा कहते हैं और हर क्षण चाहते हैं कि वह अपनी जिद पर जोर देना जरा ढीला कर दे किन्तु ऐसा नही होता। राम के जाते ही उनके गुणो का स्मरण कर वे विह्वल हो जाते हैं। इस सदर्भ से अचानक उनकी दृष्टि क्षीण हो जाती है। वे कहते हैं—कौशल्ये, न जाने मेरी नजर कमजोर क्यों होती जा रही है मुझे जरा छूकर देखना, लगता है मेरी दृष्टि राम के साथ ही चली गई है। अब वह कभी नहीं लौटेगी।

"न त्वा पश्यामि कौशल्ये साधु मा पाणिना स्पृश।
राम मेनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते।"

राम के चले जाने के बाद अंतिम सास तक वे केवल उन्हीं की चर्चा करते हैं। सुमत्र जब उन्हें छोड़कर वापस लौटता है तो उससे भी वे बारबार राम की बात और उनके हालचाल कहने का आग्रह करते हैं। वे कहते हैं कि उस योग्य और गुणी पुत्र की चर्चा से ही मुझे राहत मिल सकती है। अन्यथा मेरा प्राणात निकट

है। आसित शयित मुक्त सूत रामस्य कीर्तय। जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुपु।" और वे पुत्र के वियोग मे प्राण ही छोड देते हैं।

पुत्र वात्सल्य पर इसी प्रकार का आदर्श श्रवणकुमार के पिता के स्नेह मे भी मिलता है। दशरथ के बाण से घायल श्रवण जब उनके सामने ले जाया जाता है तो उनका बिलाप बहुत हृदयद्रावक होता है। उनके इस शोक मे वाल्मीकि ने करुण रस का चरम परिपाक चित्रित किया है। अधा बाप बुढापे की लकडी छिन जाने से किस प्रकार टूट जाता है इसका अनूठा उदाहरण वाल्मीकि के ये शब्द हैं – नाभिवादयसे माद्य न च मामभिभाषसे। किं च शेषे तु भूमौ त्व वत्स किं कुपितो ह्यसि ? कस्य वा पररात्रेह श्रोष्यामि हृदयगमम् ? अधीयानस्य मधुर शास्त्र वान्यद् विशेषत । तिष्ठ मा मा गम पुत्र यमस्य सदन प्रति। श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधित । बेटा आज क्या बात है ? तुम मुझे प्रणाम नही कर रहे, बोल नहीं रहे। क्या नाराज हो ? अब मैं सवेरे किसके शास्त्र पढने की ध्वनि सुना करूगा ? ठहरो तुम अभी नही जा सकते। कल तुम मेरे साथ और अपनी मा के साथ ही उस लोक म जा पाओगे।" और वही पुत्र की चिता पर अधे मा बाप जलकर प्राण दे देते हैं।

सुयोग्य और स्नेह भाजन पुत्र के प्रति उत्कट प्रेम का ऐसा ही उदाहरण है महाभारत मे अभिमन्यु की चक्रव्यूह मे मृत्यु हो जाने पर अर्जुन का शोक और स्वय पुत्र के वियोग मे प्राण छोड देने की प्रतिज्ञा। द्रोणाचार्य का अपने पुत्र अश्वत्थामा के प्रति प्रेम भी इतना ही उत्कट था। अश्वत्थामा मारा गया' यह झूठी खबर सुनते ही उन्होंने युद्ध बन्द कर दिया और उनका प्राणान्त हो गया। इस प्रकार पुत्र के प्रति स्नेह भी हमारे प्राचीन साहित्य का एक अनुकरणीय आदर्श है। यही कारण है कि प्राचीन सस्कृति मे पीढियो के अन्तराल या जनरेशन गप की समस्या बहुत कम मिलती है। पीढ़ियो का टकराव तो दूर, हमारे यहा तो ऐसी परम्परा वर्षों से चली आ रही है कि पुत्र जब तक 5 वर्ष का हो तब तक उसका लालन करें, 15 वर्ष का होने तक उसे कडे अनुशासन म रखें किन्तु 16 वर्ष का होने के बाद पिता उसके प्रति मित्र का सा व्यवहार करें।

लालयेत् पच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्।

जिस समाज में इतना विवेकपूर्ण समझौता पारस्परिक सबधों को नियन्त्रित करता हो वहां जनरेशन गॅप की समस्या का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ?



धर्म और राजनीति

इस देश म धम शब्द की जितनी छीछा लेदर हुई है उतनी और किसी की नही। आजकल तो धम वह कपडा हो गया है जिसकी तथाकथित गदगी बाजार मे बठकर धोने के लिए कोई भी किसी भी समय तैयार रहता है। कोई उसे राजनीति स अलग करने की घोषणा करता है तो कोई सभी को उससे ऊपर उठने को कहता है। इस बात पर झगडने की जरूरत नही कि पिछली कुछ सदियो से धम ने इस देश मे जो सिर फुटव्वल कराई है और आज उसके नाम पर जितना खून-खराबा हो रहा है उसकी बराबरी करने वाला दूसरा मुद्दा शायद ही मिले। भाषा, सीमा विवाद आदि मुद्दे उस ऊचाई तक नही पहुचते।

मसला धम और राजनीति का

इसमे भी दो राय नही कि धम जब से राजनीति की गली मे घुसा और राजनीति जब से धम के अहाते मे जाकर टहलने लगी तब से ऐसे विवाद अधिक होने लगे हैं। सबसे दिलचस्प बात यह है कि इस तथ्य के होते हुए भी इतिहास यह कडवी बात उगलता रहा है कि अनेक देशो मे इतिहास के एक बहुत बडे हिस्से मे धम, राजनीति और राज्यशासन को चलाता रहा है और राज्य धम मे दखल देता रहा है। आज भी अनेक ऐसे देश है जो धम के नाम पर शासन चला रहे हैं जिनका सविधान धम पर आधारित है कानून धम या शरह पर चलता है और शासन व्यवस्था भी धम की लीक पर चलती है। कौन नही जानता कि ऐसे अनेक देश पिछली सदियो मे रहे हैं जिनके बादशाह धमगुरुओ अर्थात् खलीफाओ से अनुमति खिलअत या आशीर्वाद प्राप्त किये बिना शासन ही नहीं कर सकते थे। दिल्ली के सुलतान अपने आपको खलीफा का नायब बताते थे और इल्तुतमिश जैसे सुलतान बगदाद के खलीफा से मा यता पत्र लेते थे। इग्लैण्ड मे तो चच ने राजतत्रो को उठाया और गिराया है और राजा ने चर्च के मामलो मे दखल-दाजी करना चाहा है। इगलिस्तानी इतिहास के छात्रों को रटाया जाता है कि किस प्रकार जब राजा कैथोलिक धर्मानुयायी या उसकी रुझानवाला होता था तो प्रोटेस्टेन्टो पर अत्याचार होते थे और प्रोटेस्टेन्ट समथक होता था तो कथोलिको पर।

योरप आदि पश्चिमी देशों में तो इस बात ने बहुत विचार मंथन पैदा किया कि राजनीति का धर्म में दखल नहीं होना चाहिए। वैटिकन सिटी में केवल पोप का शासन चलता है कोई पुलिस, अन्य शासक या कानून वहां नहीं है। इस पर भी आन्दोलन हुए कि रोम में बैठे धर्मगुरु का प्रभुत्व इंगलैण्ड में क्यों? हमारा अलग चर्च और धर्मतंत्र क्यों न हो? इस धर्म विवाद के कारण चिंतकों को यह सोचने को विवश होना पड़ा था कि धर्म राजनीति में आकर कितने विवाद पैदा कर सकता है। तभी तो वहां से एक नया शब्द पैदा हुआ "सेक्यूलर" जिसका आयात हमने भारत में करके धर्म निरपेक्षता की नई फसल पैदा कर ली थी। अब इसे सही कर 'पंथ निरपेक्ष" नाम दिया गया है क्योंकि सभी धर्म शाखाओं या पंथों के लिए राज्य का समान व्यवहार होने का सिद्धान्त ही तो है यह। यदि पूरे राज्य में एक ही धर्म प्रचलित हो तो राज्य द्वारा उसे मान्यता देने पर उतना संघर्ष, संकट या खतरा नहीं होगा जितना बहुधर्मी देश में। बर्मा बौद्धधर्म को मान्यता दे दे, नेपाल हिंदू धर्म को या मुस्लिम देश इस्लाम को, तो वह एक बात हुई और रूस या चीन (या भारत) किसी एक धर्म को मान्यता दे दें तो वह अलग बात हुई। इंगलैण्ड में भी धर्म तो एक ही था (क्रिश्चियन) पर उसकी शाखाएं अलग अलग होने लगी। तब उन्हें ऐसा राजतंत्र और शिक्षातंत्र बनाने की आवश्यकता महसूस हुई जो इन शाखाओं से निरपेक्ष हो। इसी का परिणाम था सेक्यूलर शब्द। आज यह तर्क किया जा सकता है कि जब अधिकांश देशों में धर्म गुरु से आशीर्वाद लेकर ही राजा या क्राउन शासन करता था तब फिर आज उसे ही राजनीति से अलग करने को क्या कहा जाता है? जब सबको मताधिकार है तो धर्म ही उससे वंचित क्यों रहे? अनेक चिंतकों ने यह प्रश्न उठाया है जो विचारणीय भी है।

अधिकांश देशों में धर्म ही राजनीति का प्रवर्तक रहा था किन्तु उसके जो दुष्परिणाम हुए उन्होंने धर्म और राजनीति को अलग अलग करने की प्रेरणा दी। इस दृष्टिकोण से इसे एक वास्तविक आवश्यकता के रूप में देखना सही परिणाम देगा, केवल नारे के रूप में उछालना नहीं। हमारे देश में धर्म का इतिहास दूसरे ढंग का ही रहा है। यहां की यह अद्भुत विशेषता रही है कि यहां धर्म पहले पैदा हुआ, ईश्वर बाद में। अन्य देशों में ईश्वर के नाम पर धर्म प्रवर्तित किया जाता रहा था पर यहां धर्म पहले थे, ईश्वर की उद्भावना बाद में किसी कारण हुई। देव" पहले भी थे, बहुदेववाद भी था पर एक ईश्वर जो चराचर का मालिक है बाद में अवधारित हुआ। यह बात बहुतों को नाराज करेगी पर है सच। किंतु इसे कभी बाद में देखेंगे। फिलहाल तो यही कहना पर्याप्त है कि हर देश के इतिहास को, शब्दों को या अर्थों को एक ही लाठी से हांकना कभी कभी यथार्थ को दृष्टि से ओझल कर देता है। केवल शब्द और भाषा के लिहाज से विचार करें तो यह

जानकर भी बड़ा आश्चय होता है कि धम शब्द ने वेदकाल से लेकर आजतक किस प्रकार अथ बदले हैं। वेद काल मे धम शब्द का अथ वह नहीं था जो आज है। आज धर्म का अथ वही है जिसे हम रिलीजन या मजहब से समझते हैं। इस देश मे धम का यह अथ बहुत बाद मे आकर जुड़ा है। वेदो मे धम शब्द अधिकाशत हल त अर्थात् धमन् के रूप मे आया है और बहुवचन मे आया है 'तानि धर्माणि प्रथमा यासन्''। उस समय तत्कालीन समाज को चलाने वाले नियमो और अनुशासन को धम कहा जाता था। इसका अनुवाद करें तो अग्रेजी मे "लाज" या उर्दू मे कानून जसा कोई शब्द लिखना पड़ेगा। यह केवल सयोग नही कि वेद मे जिस प्रकार धमन् शब्द बहुवचन मे आता था उसी प्रकार अग्रेजी मे ला शब्द अधिकाशतः बहुवचन मे ही आता है (डॉक्टर ऑफ लाज, बेचलर ऑफ लाज)। वेदो और शास्त्रो मे धम का ठीक इसी अथ मे प्रयोग मिलता है। राजस्थान विश्वविद्यालय का सिद्धा त वाक्य है जो उसकी सील मे छपा है "धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा" अर्थात् धम पर ही सारा ससार टिका हुआ है। यहा मजहब पर ससार के टिकने की बात नही कही गई है बल्कि विश्वजनीन अनुशासन और कानून पर विश्व के टिके होने की बात कही गई है। यही अथ जयपुर रियासत के मोटो का था 'यतो धमस्ततो जय।'

सयोग ऐसा हुआ कि जबसे यह धम शब्द हलत से अज त बना और बहुवचन से एकवचन बना, धीरे धीरे मजहब का अथ देता गया। उससे पूव तो शास्त्रो ने भी धम का लक्षण इसी प्रकार किया था जो कानून या सविधान का अथ देता हो। जैमिनि ने लक्षण किया है 'चोदना-लक्षणोर्थो धम'' अर्थात् जो नियम सहिता समाज को प्रेरित और अनुशासित करे वही धम है। यह परिभाषा ठीक वही है जो सविधान की होती है। उस समय ऋषियो और प्रबुद्धजनो द्वारा देश के हित के लिए जो सविधान बनाया जाता था उसे धम कहते थे। उसीसे अभ्युदय हो सकता था। धम के अनुसार अर्थात् सविधान के अनुसार शासन चलाना राजा का धम (कर्तव्य) था। ज्यो ही वह धम से अर्थात् सविधान से विरुद्ध गया उसे निकाला जा सकता था। जिस प्रकार आजकल सविधान के शब्दो के निवचन मे मतभेद हो जाते हैं उसी प्रकार उस समय भी धम के अथ निर्वचन मे विवाद होते थे। तभी कह दिया गया धमस्य तत्वम् निहितम् गुहायाम्'' अथात् धम बड़ा गूढ है। जिस प्रकार सविधान के अथ के निवचन का अधिकार केवल उच्चतम यायालय को है उसी प्रकार पहले केवल प्रबुद्ध ऋषियो या ब्राह्मणो को था। मनु ने विद्वानों के बहुमत का यह अधिकार बताया है। तत्तिरीय उपनिषद् बताती है कि धम के मार्गों मे सदेह होने पर (जिसे यहा कर्म विचिकित्सा शब्द से अभिहित किया गया है) उसका सही निवचन प्रबुद्ध विद्वानो से कराना चाहिए। प्रबुद्ध विद्वानो मे भी मतभेद हो तो

क्या करें ? इसका बहुत सुन्दर विवेचन सायण ने किया है और बताया है कि ऐसे मे बहुमत ही मा य होता था। इसके लिये उन्होने एक सना नरिष्टा का प्रयोग करके बताया है कि बहुमत से निणय हो जान पर अल्पमत वाले को भी उसे मानना पडता था। यहा तक धम और राजनीति अलग अलग नही थे किन्तु धम का अथ बिल्कुल दूसरा था। सविधान ही राजनीति को चलायेगा, इसमे किसी को मतभेद नहीं हो सकता।

हुआ यह कि धम की जब प्रतिष्ठा बहुत बढ गई तो इस शब्द को हर व्यक्ति अपने हित के लिए भुनाने लगा। ऐसे महिमाशाली दो ही शब्द सस्कृत म रहे हैं, एक तो ब्रह्म दूसरा धम। दोनो की महिमा इतनी बढी हुई थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रिय वस्तु को ब्रह्म बताने लगता था या धम बताने लगता था। धम शब्द के साथ बलात्कार तभी से शुरू हो गया था। योग विद्या वालो ने योग का महत्त्व बताना चाहा तो कह दिया कि योग ही धम है। भागवत ने भक्ति को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित करना चाहा तो कहा कि भक्ति ही धम है। ठीक उसी तरह जसे ब्रह्म शब्द को भुनाते हुये कभी अन्न, कभी आन द को, कभी विज्ञान को ब्रह्म बत या गया और धीरे धीरे राम, कृष्ण आदि अवतारो का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर ब्रह्म को यशोदा की गोद मे या दशरथ के आगन मे खेलता बताया जाने लगा। जो धम निर्वैयक्तिक था, पूरे समाज का था, बहुमत से चलता था और सविधान का अथ देता था वह किसी धम गुरु द्वारा प्रवर्तित मजहब का अथ कसे देने लग गया इस पर जितना शोध करें उतना ही कम है। जब कोई एक व्यक्ति धमचक्र का प्रवतन करने लग जायेगा तो उसका अथ किसी धम गुर द्वारा चलाया हुआ मजहब या रिलीजन क्यो नही होगा ? यही यहा हुआ। रिलीजन के अथ मे धम आने लगा बौद्ध धम, जन धम वर्णाश्रम धम। तब राजधम क्या हो ? यदि राजा बौद्ध है तो क्या सारे देश का धम बौद्ध हो जायेगा ? यहा आकर इस बात की जरूरत महसूस होने लगी कि धम और राजनीति अलग होनी चाहिए। राजा के लिए सभी धम समान हैं। तब से इस सिद्धा त को भी महत्त्व मिला कि राजा सभी धर्मों का सम्मान करे और सबको फलने फूलने का अवसर दे। ठीक यही बात हमारे सविधान मे कही गई है। धम निरपेक्षता या पथनिरपेक्षता का अथ भी यही है। यह नही कि किसी धम को न माना जाए बल्कि सब धर्मों को समान आदर दिया जाए। सदियो पूव सम्राट अशोक जितना बौद्ध विद्वानो को आदर देता था उतना ही अन्य विद्वानो को भी। च द्रगुप्त मौय से लेकर हषवधन तक आदश राजतन्त्र का यही लक्षण माना जाता था कि वह सब धर्मों (सप्रदायो) को समान आदर दें। यहा आकर स्पष्ट हो जाता है कि ज्यो ही एक से अधिक धम देश म चलने लगें तो धम और राजनीति का अलग होना कितना आवश्यक हो जाता है।

आज धम शब्द पर जितने विवाद हो रहे हैं उनमे कुछ का कारण तो यह भी है कि धम शब्द की ऊपर बताये अनुसार अनेक अथ और अनेक परिभाषायें हो गई हैं। धम शब्द का जो लोग कतव्य, सविधान या अनुशासन के रूप मे निवचन करते हैं उनके लिये तो बेशक राजनीति और धम को अलग करने की जरूरत नहीं किन्तु धम का अथ यदि रिलीजन या मजहब आदि है तो उसे राजनीति से अलग करना इस देश की बहुत पुरानी परम्परा है। यह बात ईमानदारी से मान लेनी चाहिए कि हमारे यहा जिन धमगुरुओ के द्वारा राज्य शासन को प्रेरित करने का उल्लेख मिलता है वे च हे वशिष्ठ हो या मनु उनके समय मे धर्म का अथ सविधान ही था और सविधान से राजनीति का चलाया जाना सवमान्य है। आज तो नित्य-नये धम भी पदा हो रहे हैं, कुछ पाच सितारा भगवानो, महर्षियो और योगियो को भी अपने अपने नये धर्मों की शाखा चलाने और धमचक्र प्रवतन करने का शौक चर्राया है। ऐसे मे जितनी जल्दी धम राजनीति से अलग हो जाए उतना ही अच्छा है।



रामकथा की एक राजनैतिक गुत्थी

इस देश के जनमानस मे सहस्राब्दियो से रची बसी सास्कृतिक निधि राम कथा का मेरुदड राम का चरित्र है जो भ्राता पुत्र, पति, राजा सभी रूपो मे आदर्श की छवि प्रस्तुत करता है। उल्लेखनीय है कि रामकथा को एक आदर्श जननायक की कथा के रूप मे स्थापित करने का अभियान वसे तो सवप्रथम वाल्मीकि ने चलाया था किन्तु आज रामकथा की जो छवि उत्तर भारत म है उसका प्रमुख आधार तुलसीदास का रामचरितमानस है। तुलसीदास ने मानस को लोकमगल के आदर्शों के तानेबाने मे ही बुना है और राम के व्यक्तित्व मे केवल आदर्शों का ही रग दिया है। यही कारण है कि वाल्मीकि की रामायण मे जो घटनाए और चारित्रिक आयाम तुलसीदास को नही जच वे उन्होंने छाट दिये। फलत जन-सामान्य के लिये वे आज बिल्कुल अनजाने ही रह गये।

उनका जानना यद्यपि आज जनसामान्य के लिये जरूरी नही है क्योंकि ऐसी कोई भी बात जो आदर्श की तराजू पर किसी भी भाति कमजोर लगती हो तुलसीदास ने छाटकर इसीलिये अलग कर दी थी कि रामकथा उदात्त आदर्शों का एक पुज बन सके। फिर भी तत्कालीन राजनीति का एक चित्र जो सस्कृत की कथाओ मे तो स्पष्ट वर्णित है किन्तु तुलसीदास म न होने के कारण आज पूरी तरह अपरिज्ञात है, मनोरजक अध्ययन का विषय है।

कैकेयी के दो वर

राम के वनगमन के पीछे ककेयी के दो वर मागने की घटना रामकथा के रथ की धुरी है और इसी कारण कैकेयी की भूमिका आजतक खलनायक की सी चली आ रही है। इस भूमिका को कुछ नरम बनाने के लिये तुलसीदास ने भी प्रयत्न किया और अन्य हिन्दी कवियो ने भी, पर वह इस कालिख से बच नहीं पाई। वाल्मीकि और सस्कृत के अन्य साहित्यकारो ने इस घटना के पीछे जो राजनीतिक गुत्थी बताई है वह कुछ और ही है। उनके अनुसार राम के वन भेज जाने और भरत के राज्याभिषेक के पीछे ककेयी के सौतिया डाह या मथरा के भड़काने मात्र की ही भूमिका रही हो, सो बात नहीं है, उसके पीछे एक राजनयिक शत भी थी। दशरथ ने जब ककेयी के साथ विवाह किया था उस समय उसकी अनेक रानिया और पटरानिया थी। वाल्मीकि के अनुसार दशरथ की लगभग 350 रानिया थी।

कौशल्या पटरानी थी सुमित्रा बाद मे बनी। फिर भी दशरथ ने कैकय-नरेश की सुदरी कन्या से जब विवाह करना चाहा तो कैकेयी के पिता युधाजित् ने यह शर्त रखी कि यदि कैकेयी का पुत्र ज्येष्ठ पुत्र हुआ तो वह दशरथ के राज्य का उत्तराधिकारी होगा हो यदि वह ज्येष्ठ न भी हुआ तो भी वही उत्तराधिकारी होगा। दशरथ ने यह शर्त मान ली थी।

दशरथ का ज्येष्ठ पुत्र राम था जो अपने सिद्धान्तो के कारण पिता को, भाइयो को और जनता को भी प्रिय था, दूसरे उस समय का सार्वदेशिक सिद्धान्त था ज्येष्ठ पुत्र के ही उत्तराधिकारी होने का नियम, जिसे सारा देश मानता था। वस्तुत इस सार्वदेशिक नियम और राजा द्वारा कैकेयी के साथ की गई व्यक्तिगत शर्त के बीच का अन्तर्द्वन्द्व रामकथा की एक राजनीतिक गुत्थी के मूल मे है। यही कारण है कि जब दशरथ ने राम को युवराज बनाने का निर्णय किया तो उस समय भरत अपने नाना के यहा गया हुआ था। हो सकता है ऐसा जानबूझकर भी किया गया हो। जो भी हो, उसकी अनुपस्थिति मे ही राम का यौवराज्याभिषेक हो जाये इसका आग्रह दशरथ ने किया यह तथ्य तो वाल्मीकि मे भी है अन्य कथाकारो मे भी। लगता है दशरथ के मन का यह अन्तर्द्वन्द्व कि वह एक ऐसी शर्त कर बैठा है जिसे मानने को उसका हृदय भी नही चाहता न जनता चाहती है और देश की सामान्य विधि के विपरीत तो वह है ही, उसे प्रेरित कर रहा था कि इस शर्त की बात दरगुजर हो जाये। तभी तो ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर भी भरत और शत्रुघ्न को ननिहाल से बुलाना आवश्यक नहीं समझा गया। वशिष्ठ आदि सलाहकार और प्रमुख जननेता शायद यह सब जानते थे किन्तु वे भी कमजोर क्षणो मे किये गये राजा के व्यक्तिगत वायदे को विस्मृति के गर्भ मे ही रहने देना चाहते थे। इसी अवसर पर कैकेयी के पीहर से आई हुई और इस शर्त को जानने वाली पुरानी परिचारिका मथरा ने कैकेयी को इस ओर सचेत किया और बताया कि तुम्हें इस समय उस शर्त की अनुपालना करवानी चाहिये। इसके अतिरिक्त (अनुपालना को सुनिश्चित करने हेतु) मुह दिखाई के अवसर पर दिये जाने वाली सौगात के रूप मे, जिसे उस समय कैकेयी ने बकाया रख लिया था यह भी माग लिया जाना चाहिये कि राम को तब तक अयोध्या से बाहर भेज दिया जाये जब तक भरत का पूर्ण राज्याधिकार सुनिश्चित न हो जाये। शायद यही वे दो वर थे जो मागे गये।

तुलसीदास ने उपर्युक्त शर्त का कही कोई जिक्र नहीं किया है इसलिये आज के हिन्दी प्रेमी पाठकों और राम भक्तो को यह बात अजूबा भी लग सकती है और अनुचित भी। किन्तु वाल्मीकि ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है। परवर्ती सस्कृत साहित्यकारो ने विशेषकर नाटककारो ने इसे बहुत स्पष्ट चित्रित किया है। रघुवश के कवि कालिदास को भी राम चरित्र की आदर्श स्वरलहरी मे ऐसा विवादी स्वर लगाना उचित नही लगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तुलसीदास को

अनुचित लगा। शायद यही कारण हो कि रामकथा की स्लेट पर से यह बात पुँछ सी गई।

वाल्मीकि और भास

संस्कृत मे लिखे रामकथा सम्बंधी नाटककारो के अनुसार राम को भी यह बात ज्ञात थी, भरत अवश्य ही इससे अनभिज्ञ था। ज्यो ही राम को मालूम हुआ कि उसकी मध्यमाम्बा (मझली माता ककेयी) ने भरत को युवराज बनाना चाहा है तो वह तुरंत इसके लिये तयार हो गये। और उसने दशरथ को भी प्रेरित किया कि वे अपना वचन पूरा करे। भरत राम से स्नेह तो रखता ही था देश की सार्वदेशिक विधि का अनुसरण भी उसे प्रिय था। इसलिये उसे यह सब जब ज्ञात हुआ तो उसने इस बात को कोई महत्त्व नही दिया कि देश के कानून के विपरीत किसी व्यक्ति ने कोई निजी शर्त किसी कारण कर ली हो तो उसे निभाया ही जाये, तभी उसने अपनी माता को बुरा भला कहा और राम को मनाने वह चित्रकूट भी पहुचा। वहा भी राम ने भरत को इसी शर्त की याद दिलाई थी। वाल्मीकि ने इसका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है —

"मातामहे समाश्रौषीद राज्यशुल्कमनुत्तमम्।'

संस्कृत के नाटककारो ने इस राजनीतिक गुत्थी को अनेक रग दिये हैं। कालिदास से भी पूववर्ती प्रसिद्ध नाटककार भास ने (ई पू तीसरी सदी) रामकथा पर अनेक संस्कृत नाटक लिखे हैं। उन सभी मे इस घटना का उल्लेख है। प्रतिमा नाटक मे ककेयी के वर मागने के बाद दशरथ की सहमति पर जब लक्ष्मण आग बबूला हो जाता है और राम से कहता है कि देश के कानून के विपरीत जाने वाली इस बात का वह विरोध करे तो राम उसे समझाता है कि तुम अपनी मझली मा और भरत को किस आधार पर दोषी ठहरा रहे हो वह अपना वचन पूरा करवा रही है और वह अपना हक माग रहा है यह क्या उनका दोष है? भाई के हक के राज्य को हम छीन रहे है यह क्या हमारा दोष नही है?

शुल्के विपणित राज्य पुत्रार्थे यदि याच्यते।

तस्या दोषोत्र? नास्माक भ्रातृराज्यापहारिणाम्?"

इस पर जब लक्ष्मण स्वय धनुष लेकर विद्रोह पर तयार होता है तो राम उसे समझाते हुए कहता है कि हमारा बाण किस पर चलेगा? उस पिता पर जो अपने वचन की आन रख रहा है उस माता पर जो अपना हक माग रही है या उस भाई पर जिसे कुछ पता नही है? तुम्हारे क्रोध को इन तीनो मे से किसकी हत्या अभीष्ट है?

इस प्रकार प्राचीन संस्कृत स्रोतो मे यह राजनयिक शर्त सारी रामकथा की मूल गुत्थी के रूप म उल्लिखित है। कालिदास से परवर्ती साहित्यकारो ने काव्यगत

चरित्र चित्रण की अपेक्षाओं के कारण शायद इसका उल्लेख नहीं किया। इसके बाद भक्ति आन्दोलन के अनुरूप जो अनेक रामायण लिखी गईं उनमे तो इसका उल्लेख होना सम्भव ही नहीं था क्योंकि इससे राम के चरित्र की गरिमा को कुछ दूसरा ही रूप मिल जाता है। मध्यकाल तक आते आते यह प्रसंग अपरिज्ञात ही हो गया। वैसे 'साकेत सन्त'' (डॉ बलदेव प्रसाद मिश्र) जैसे कुछ आधुनिक हिन्दी काव्यो ने पुनः इसका संकेत दिया है।

इतिहास की अन्य घटनाएँ

ज्येष्ठ के उत्तराधिकार सिद्धान्त के विपरीत छोटे भाई को उत्तराधिकारी बनाने के व्यक्तिगत करार का यह प्रसंग कितना प्रामाणिक है इस बारे मे यद्यपि विशेष शोध नहीं हुआ है किन्तु प्राचीन स्रोतो मे पाये जाने के कारण यह तो लगता ही है कि कैकेयी के तथा कथित दो वरो का रहस्य शायद इसी करार के परदे मे छिपा हो।

भारत मे इस सार्वदेशिक सिद्धान्त के विपरीत व्यक्तिगत करारो की अनेक घटनाएं हुई है, इसलिये इसकी सम्भावना पर्याप्त है भी। राजा शांतनु द्वारा दाशराज की अयोनिजा सुन्दरी धीवर कन्या सत्यवती से विवाह को सम्भव बनाने हेतु उसके पिता ने राजा से यह करार चाहा था कि सत्यवती के पुत्र को ही छोटा होने पर भी राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाये। शान्तनु का पुत्र देवव्रत पहले से मौजूद था जो राज्य का उत्तराधिकारी था किन्तु उसने अपने पिता का विवाह सम्भव बनाने हेतु तथा उसकी सन्तान भी इसमे अड़चन न बन पाये इस उद्देश्य से सदा अविवाहित रहने की भीषण प्रतिज्ञा की जिसके कारण उसका नाम भीष्म पड़ा। महाभारत की यह कथा सुविदित है। मुगलकालीन इतिहास मे भी ऐसी घटनाए हुई हैं। जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह ने जब उदयपुर की राजकुमारी चन्द्रकुवर के साथ विवाह किया (सन् 1708) तो उससे भी उदयपुर के राणा अमरसिंह ने यह वचन ले लिया था कि चन्द्रकुवर का पुत्र उत्तराधिकारी होगा। हुआ यह कि चन्द्रकुवर का पुत्र माधोसिंह छोटा भाई था और बड़ा ईश्वरीसिंह रानी सुखकुवर खीची का पुत्र था। सारे सामन्त और स्वयं जयसिंह ईश्वरीसिंह को ही उसके गुणो के कारण उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे किन्तु माधोसिंह भरत नहीं था। उसने अपने हक के लिये लड़ाई की और उसमे मराठो से मिलकर उनकी सहायता ली। परिणाम यह हुआ कि ईश्वरीसिंह ने जहर खाकर उस समय आत्महत्या कर ली जब मराठो की सेना राजमहलो के निकट तक पहुच गई।

स्वयं महाराणा प्रताप के साथ भी यही हुआ था। वे महाराणा उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे पर उदयसिंह अपनी एक सुन्दरी रानी धीरजी भटियानी की शर्त पर उसके पुत्र जगमाल को छोटा होने पर भी उत्तराधिकारी बनाने का वचन दे

चुके थे अत यही द्वन्द्व उनके राज्याभिषेक के विघ्न के रूप मे आया था। अत अधिकाश सामन्तो द्वारा ज्येष्ठ के उत्तराधिकार के सार्वदेशिक सिद्धान्त का समर्थन किये जाने पर प्रताप ही गद्दी पर बैठे।

मुगलो मे भी ज्येष्ठ के उत्तराधिकार का सिद्धान्त था जिसके विपरीत अपने हक के लिये लडने वाले छोटे भाइयो की कहानिया सुप्रसिद्ध हैं। छोटे भाई को राज्य देने के व्यक्तिगत करार की घटनाए भी हुई हैं। मोहम्मद शाह जफर के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठने वाला अन्तिम बादशाह था अबू जफर जो अकबर शाह द्वितीय का पुत्र था किन्तु अकबरशाह की बेगम मुमताजमहल ने छोटा होते हुए भी अपने पुत्र मिर्जा जहागीर को बादशाहत देने का करार अकबरशाह से ले लिया था। एक करार सार्वदेशिक नियम के विरुद्ध होने के कारण अंग्रेज सरकार ने इस व्यक्तिगत करार को नकार दिया। मिर्जा जहागीर बिगड गया। वह आवारा था। उसने रेजिडेण्ट सेटन पर गोली चलाई, दिल्ली से निकाल दिया गया, इलाहाबाद जाकर रहने लगा। उसकी मा ने मेहरोली के पीर के मजार पर जाकर मनौती मागी जिसके फलस्वरूप वह दिल्ली लौटा। पीर के मजार पर फूल पखे चढाये गये। उसकी याद मे आजतक 'फूलवालो की सैर" आयोजित की जाती है जो साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रतीक बन गई है, यह इतिहास सुविदित है। सार्वदेशिक उत्तराधिकार नियम और व्यक्तिगत करार के बीच के ऐसे अनेक द्वन्द्व सुप्रसिद्ध हैं। रामकथा के पीछे भी ऐसा ही द्वन्द्व था इसका उल्लेख वाल्मीकि और प्राचीन संस्कृत नाटककारो ने किया है। इसे किस प्रकार परवर्ती साहित्यकारो ने रामकथा से नदारद कर दिया यह आज भी शोध का विषय बना हुआ है।



हमारे जनतान्त्रिक मूल्य

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भारत ने सविधान द्वारा जो शासन पद्धति तथा समाजव्यवस्था अपनाई उसकी प्रमुख विशेषता थी जनतान्त्रिक, धर्मनिरपेक्ष एव साम्य पर आधारित समाज की सकल्पना जिसे उद्देशिका (प्रिएम्बल) मे भी उल्लिखित कर दिया गया है। धर्मनिरपेक्ष शब्द वस्तुत सेक्युलर" के अनुवाद के रूप मे प्रयुक्त हो रहा था। यह अनुवाद असगत है क्योकि सेक्युलर शब्द मे जो वास्तविक अवधारणाएँ अन्तर्निहित हैं वे हैं 1 ऐहलौकिक (पारलौकिक नही) 2 राज्य सम्बन्धी (चर्च सम्बन्धी नही) 3 समाजनीति को बौद्धिक एव युक्तिसगत आधारो पर परिचालित करने वाला (किसी सम्प्रदाय के आदेशो पर नही)। इन तीनो मे से किसी का भी तात्पर्य धर्मनिरपेक्ष शब्द मे नही है क्योकि धर्म शब्द का प्राचीन भारत मे वह अर्थ बिलकुल नहीं था जो आज समझा जाने लगा है। रिलीजन के पर्याय के रूप मे धर्म शब्द को आज मजहब या पथ अथवा सम्प्रदाय का वाचक मानकर उससे "धर्मनिरपेक्ष" शब्द बनाया गया है किन्तु शोधदृष्टि से इसकी असगति पाने पर ही भारत सरकार ने अब सविधान के अधिकृत हिन्दी अनुवाद मे पथ निरपेक्ष कर दिया है।

यह तो बात हुई शब्द की या अनुवाद की। उसे फिलहाल छोड दें और मूल सेक्युलरशब्द की अवधारणा की दृष्टि से देखें तो यह आश्चर्यजनक स्थापना बेबुनियाद नहीं लगेगी कि प्राचीन भारत की समाज व्यवस्था मे सेक्युलर तत्व विद्यमान थे जो धीरे धीरे सगठित सम्प्रदायो (आर्गनाइज्ड रिलीजन) कट्टरपथी मतवादो और विदेशी आक्रमणो के फलस्वरूप जन्मी प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया के कारण धूमिल होते चले गये। तभी से धर्म शब्द भी मजहब के लिए प्रयुक्त होने लगा। वस्तुत भारतीय सस्कृति के इतिहास के सदर्भ मे देखा जाए तो यहा प्राचीन काल मे या यू कहे कि विदेशियो के आगमन तक रिलीजन या मजहब के अर्थ मे धर्म शब्द का अस्तित्व था ही नही।

रिलीजन या मजहब से तात्पर्य है एक ऐसे पथ या मतवाद से जो ईश्वर-प्रदत्त अधिकार के नाम पर चलाया गया हो जिसका कोई एक पगम्बर या धर्मगुरु

हो एक धमग्र थ हो जिसका वचन ही ईश्वर के वचन के रूप में प्रमाण माना जाता हो। प्राचीनकाल मे भारत मे इस प्रकार का कोई मजहब नही था—यहा न तो कोई एक देवता आराध्य था (इन्द्र वरुण अग्नि आदि तत्त्व वेदकाल मे सूक्तो के नायक रहे, बाद म चाहे राम कृष्ण, गणेश दत्तात्रेय आदि अनेक देवता यहा के आराध्य बने फिर भी कोई एक मजहब नही रहा) न कोई एक धम ग्रथ है—वेद, उपनिषद गीता, स्मृतियाँ, पुराण कल्पसूत्र, त्रिपिटक, सभी प्राचीन ग्रथ यहा समादृत रहे हैं। यहा किसी को पैगम्बर या देवदूत के समान ईश्वरीय अधिकार प्राप्त हो वह स्थिति भी नही थी। वदिक काल मे अनेक ऋषियो द्वारा जो प्रबुद्ध विचारक थे ऋचाए रची गई जिनमे सृष्टि विधान, तत्त्व मीमासा, तत्कालीन समाज व्यवस्था प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो की महिमा आदि वर्णित हैं। वस्तुत देवो के रूप म भी वेद काल मे प्राण मन वाक, अग्नि वायु जल पृथ्वी आदि के विभि न तत्त्व ही प्रतीकात्मक प्रणाली से वर्णित हैं जो विज्ञान के घटक हैं तथा वैज्ञानिक अनुष्ठानो अथवा मानव के सामूहिक हित की दृष्टि से तत्कालीन समाज को प्रिय थे।

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि ऋग्वेद म 'धम" शब्द किसी अतिमानुष सत्ता अथवा किसी देवता के नाम पर प्रवर्तित ग्रथ के रूप मे कही भी प्रयुक्त नही हुआ। वेदो मे धम शब्द कभी विज्ञान के लिए कभी गुण के लिए कभी समाज के प्रशासन [redacted] लिए ये बनाये गये कानून विधान अथवा सामाजिक कतव्यो के लिए प्रयुक्त हुआ। चूँकि ऐसे सामाजिक नियम देश एव काल के भेद से अलग-अलग होते थे, अत धमन् शब्द का यहा अधिकाशत बहुवचन मे ही प्रयोग हुआ है—अता देवाना मनुष्याणा धमणि। (3/60/6)।

'समिध्यमान प्रथमा नु धमा।" अया धर्माणि सनता न दूदुरत्। इन सब म बहुवचन म प्रयुक्त धम शब्द अधिकाशत उसी अथ मे प्रयुक्त है जिस अथ मे आज हम सामाजिक कतव्यो, विधियो यानि लाज अथवा वधानिक नियमो का प्रयाग करते हैं।

वेदकालीन समाज—व्यवस्था पूणत उपयोगितावादी व्यावहारिक भौतिक समृद्धिशील, कृषि सभ्यता की प्रतीक हैं। उस समय का प्रधान कृत्य यज्ञ भी ऋग्वेद के समय मे किसी धार्मिक कृत्य की तरह नही बल्कि समृद्धिशील समाज के बुद्धि जीवियो की सगोष्ठी प्रयोगशाला के उत्सव की तरह से वैज्ञानिक अनुष्ठ न के रूप म मनाया जाता था। भाषा शास्त्रियो के अनुसार वदिक भाषा का यज्ञ शब्द और फारसी का जश्न शब्द किसी एक ही पूवज (भारोपीय) शब्द [redacted] वशज हैं।

इस प्रकार मजहब या रिलीजन के अथ मे प्राचीन काल म कोई धम नही रहा। इसी चिन्तन का एक अन्य पक्ष है यह विवेचन कि क्या प्राचीन भारत मे या

वेदकाल मे भारतीय समाज व्यवस्था "सेक्युलर" अर्थात् तर्कसंगत, बुद्धिनिष्ठ, वैज्ञानिक समाजहितोन्मुख आधारो पर परिचालित होती थी या किसी धर्मगुरु के आदेशो या किसी धर्मग्रंथ के सिद्धान्तो या शब्दो के अनुसार ।

इस दृष्टि से भी यह कहना अनुचित न होगा कि वेदकालीन समाजव्यवस्था मूलतः पंथनिरपेक्ष या वैज्ञानिक, बुद्धिसंगत तथा सेक्युलर दृष्टिकोण से नियन्त्रित होती थी, किसी की भी खलीफावाणी आज्ञा से नही। ऊपर से चाहे यह विरोधाभास सा लगता हो किन्तु सूक्ष्म निरीक्षण से इसकी यथार्थता स्पष्ट हो जाती है। जैसा पहले कहा जा चुका है पश्चात्य विद्वानो के अनुसार सेक्युलर समाजव्यवस्था का अर्थ है समाज के प्रशासन का ऐसा तन्त्र जिसमे किसी अलौकिक सत्ता द्वारा प्रवर्तित सर्वोसैक्ट या पावन प्राधिकार के बल पर नही, किसी ग्रंथ या धर्मगुरु के शब्द को प्रमाण मानकर नही, किन्तु यथार्थ और तार्किक दृष्टिकोण से मानवीय या लौकिक मूल्यो को आधार मानकर नियम, विधान और व्यवस्था चलाई जाती हो तथा सभी मतवादो और श्रद्धाओ के साथ समान व्यवहार किया जाता हो। इस दृष्टिकोण को न्याय मूर्ति पी बी गजेन्द्रगडकर ने सेक्युलरिज्म पर लिखे अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ मे भली भांति स्पष्ट किया है। इस दृष्टिकोण से वेदकालीन विभिन्न समाजव्यवस्थाओ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होगा कि वेदकाल मे किसी खलीफा अथवा चर्च जैसी धार्मिक सत्ता के नाम पर या उसकी अनुमति पर शासनव्यवस्था नही चली बल्कि राज्य का प्रशासन प्रबुद्ध विधायको द्वारा विहित मानवीय नियमो और जनहित को आधारभूत मूल्य मानकर चलता था। यह तो सुविदित ही है कि "राजा" जैसी संस्था के अस्तित्व के बावजूद वेदकाल मे शासन प्रणाली का प्रमुख दृष्टिकोण जनतन्त्रात्मक था। बहुमत और चुनाव जैसी प्रथाए भी वेदो मे स्पष्ट संकेतित हैं। चर्च या खलीफा राजा को खिलअत नही देते थे बल्कि जनता राजा का चुनाव करती थी— त्वा विशो वृणता राज्याय" (अथर्व 3/4)

आ यद् वामीयचक्षसा मित्रा वय च सूरय ।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये (ऋग्र 5/66/6)

इस ऋचा मे सभा के वरिष्ठ सदस्य कहते हैं, आओ हम सब मनीषी मिलकर बहुपायय अर्थात् अधिकाधिक जनसख्या के सर्वाधिक हित पर आधारित स्वराज्य के प्रशासन के प्रति सचेष्ट हो। राजा द्वारा उस समय प्रत्येक वर्ग के जनसमुदायों का शासन विधि और न्याय के अनुसार प्रबुद्धजनो की अर्थात् आप्तजनो की सभा और समिति नामक सलाहकार समितियो की मदद से किया जाता था। इस समाज व्यवस्था मे किसी का पावन अधिकार नही था। वरिष्ठ प्रजाजन ही व्यवस्था देते थे। यहा तक कि धर्म शब्द की जो उस समय विधि और न्याय व्यवस्था का वाचक था, परिभाषा करते हुए

यह परवर्ती शास्त्रो मे भी स्पष्ट किया गया कि प्रत्येक सामाजिक विधान मानवीय हित के किसी सुदृढ कारण तथा तर्क पर आधारित होना चाहिए, "बाबावाक्य प्रमाणम्" को उस समय धर्म नही कहा जाता था। धर्म सम्प्रदाय के अर्थ मे कब से आने लगा इस पर विस्तार यहा अनावश्यक होगा, किन्तु यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" याने वेद ही धर्म का मूल है जैसे वाक्यो से यह भ्रम अवश्य फैला कि वेद ने अन्य धर्मग्रंथो की तरह कोई आदेश दिये होंगे, आचारसंहिता बनाई होगी वही धर्म है—अत वह मजहब क्यो नहीं हुआ ? वस्तुस्थिति यह है कि वेदो ने ऐसे कोई फतवे नही दिये, न आचारसंहिता बनाई। उनकी संहिताए (ऋचाओ का संकलन) अवश्य हैं जिनमे विज्ञान वर्णित है या वैज्ञानिक तत्त्वो के सूक्त हैं। उनका धर्म शब्द एक निराले अर्थ का वाचक है। जयपुर के मूर्धन्य मनीषी मधुसूदन ओझा ने सन् 1902 मे लंदन मे वेदो पर जो प्रसिद्ध व्याख्यान दिये उनका शीर्षक था वेदधर्मव्याख्यानम्—वैदिक धर्म की व्याख्या। इस पर सबने समझा कि वे स्वामी दयानन्द की तरह धर्मोपदेश करेंगे। हुआ यह कि उनमे उस धर्म का दूर दूर तक नामोनिशान नहीं था, बल्कि सृष्टि विज्ञान और दर्शन की ज्ञान मीमांसा थी। उन्होने वेद को ज्ञान और धर्म को क्रिया के पर्याय के रूप मे देखते हुए समाज व्यवस्था तथा विज्ञान की पूरी सेक्युलर व्याख्या कर दी। सब चकित रह गये। ये व्याख्यान मुद्रित हैं। ऐसी ही कुछ बात हजारो वर्ष पूर्व महाभारत ने कही थी—

'नाऽकारण हि शास्त्रेऽस्ति धर्म सूक्ष्मोऽपि जाजले।
कारणाद् धर्मर्मन्वच्छन् स लोकान् विन्दत शुभान्।।"

हे जाजलि, शास्त्रो मे बिना किसी सुदृढ तर्क पर आधारित किये कोई समाज व्यवस्था विहित नही की गई है। स्वयं मनु ने भी कहा है—

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर। (12/106) "जो तर्क की कसौटी पर परख सके वही धर्म को समझ सकता है।" यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक 'बहुजन हिताय' और बहुजन सुखाय की कसौटी पर कसे जाने के कारण समाज व्यवस्था के विधान मे देशकालानुरूप परिवर्तन आते रहे हैं। वेदकाल से लेकर अब तक अनेक शास्त्र समाज व्यवस्था के विधान के लिए लिखे गये और व्यावहारिक सामूहिक उपयोगिता की दृष्टि से उनमे अपवाद किये गये, परिवर्तन किये गये (कट्टर मजहब या रिलीजन मे परिवर्तन नही होते), युगानुरूप परिवर्तन ही इसकी सनातनता का रहस्य है।

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य मे जो समाज व्यवस्था वर्णित है उसके मूल्य स्पष्टत जनतान्त्रिक होने के साथ साथ समभाव और सह अस्तित्ववादी भी हैं, यह

भी उसके अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है। उस समय सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से कर्तव्यो और अधिकारो का विभाजन करके एक व्यावहारिक शासन व्यवस्था अवश्य विहित थी किन्तु पढने पढाने वाले विद्वानो, युद्ध और प्रशासन करने वाले राजन्यो आदि से लेकर व्यापार तथा अन्य प्रकार के सभी कार्य करने वाले प्रजाजनो को जिन्हे "विश" कहा जाता था इस भूमि पर समान रूप से विचरण करने तथा समृद्धि करने का अधिकार है यह अवधारणा भी स्पष्ट की गई है। उदाहरणस्वरूप अथर्ववेद के भूमि सूक्त की एक दो ऋचाए ही पर्याप्त होगी—

> जन बिभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माण पृथिवी यथौकसम् ।
> सहस्र धारा द्रविणस्य मे दुहा ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।।

इस पृथ्वी पर तरह-तरह के लोग रहते हैं जो विभिन्न भाषाए बोलते हैं, अपने-अपने धर्मों (अनुशासनो) का आचरण करते है तथा विभिन्न प्रकार के आवासो म निवास करते हैं। इन सबको यह भूमि दुधारू गाय की तरह समृद्धि की शत शत धाराओ से समान रूप से सीचती रहे।

इसमे विभिन्न भाषाभाषियो विभिन्न धर्मावलम्बियो तथा विभिन्न वर्ग के लोगो के साथ समान व्यवहार करने तथा उन्हे सम्पत्ति आदि के समान अधिकार प्राप्त करने की जो अवधारणा है वह आज के तथाकथित धर्मनिरपेक्षता सिद्धान्त के कितने निकट तथा आधुनिक लगती है, यह उल्लेखनीय है।

सहअस्तित्व तथा सबके समान अधिकारो की इसी धारणा को ऋचा मे और भी स्पष्ट किया गया है—

> त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्व बिभर्षि द्विपदस्त्व चतुष्पद ।
> तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृत मर्त्येभ्य उद्यन् सूर्यो
> रश्मिभिरातनोति ।। (अथर्व 12/1)

हे भूमि ये समस्त मनुष्य तुम्ही से पैदा हुए हैं और तुम पर समान रूप से विचरण करते हैं। दोपायो और चौपायो दोनो का तुम समान रूप से पोषण करती हो। सभी वर्गों के मानव तुम्हारे लिये समान हैं। प्रात काल उदित होता हुआ सूर्य अपनी अमृतभरा ज्योति सभी पर समान रूप से बरसाता है।

भूमि पर पैदा हुए सभी मानवो की समानता की यह अवधारणा वेदकालीन सामाजिक व्यवस्था का एक मूलभूत स्वर रहा है। 'माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या' द्वारा भूमि को माता और मानवमात्र को पृथिवी पुत्र कहने वाले वेदकालीन ऋषियो

की दृष्टि सामाजिक हित पर ही केन्द्रित रही और सच्चे अर्थों मे अस्तित्ववादी और सेक्युलर रही। आज के अर्थों मे धार्मिक सकीर्णता वहा नही थी, वह तक और व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी को लेकर चलती थी। वेदो को इसीलिये मीमासा ने ऋषि प्रणीत ही माना है, बाद मे जाकर उन्हे अपौरुषेय और ईश्वर प्रणीत मानकर उनके वचनो को ईश्वर का पावन वाक्य कहकर तथा वग विशेष के हितसाधनाथ नरक का भय दिखाकर शब्द की लकीर पीटने की प्रवृत्ति पुराणकाल के बाद मध्यकाल मे अज्ञानवश पनपी जिससे धम का सकुचित स्वरूप उभरने लगा। धम सम्प्रदाय का पर्याय बनता गया, शब्द प्रामाण्य की प्रवृत्ति कट्टर होती गई, रिलीजन आगनाइज्ड होता गया जिसे भक्ति सम्प्रदाया के प्रवतको ने लगभग मजहब का रूप ही दे डाला। नानक और कबीर जसे धम-सुधारको की भी किसी ने नही सुनी। प्राचीन समाज व्यवस्था की जो दृष्टि वैज्ञानिक थी वह प्रग्मेटिक न होकर डाग्मैटिक होती गई उसके बाद धम के नाम पर जो कुछ हुआ या हो रहा है उसे सब देख ही रह हैं। □

प्राचीन मूल्य : आधुनिक संदर्भ

इस देश की प्राचीन कथाओं और पुराणों को जब जब देखता हूं तो एक एहसास हमेशा उभर कर आता है। वह यह कि इस देश के सहस्राब्दियों के इतिहास के कई करवटें लेने के बाद भी यहां का जन मानस, यहां के सामाजिक मूल्य और आधारभूत आदर्श अधिक परिवर्तित नहीं हुए हैं। उनका आधार वही है, स दम बदल गया है। शायद बहुत पुरानी संस्कृति का धनी देश होने की ही यह देन है कि यहां के सांस्कृतिक आधारों में बहुत बड़ा बदलाव नहीं आता।

पुराणों के समय में जो आदर्श थे, जिन मूल्यों का जीवन में सर्वोपरि महत्त्व माना जाता था वे आज भी नहीं बदले हैं। बदलेंगे भी क्यों? सत्य अहिंसा, पवित्रता, त्याग और सेवा जसे मूल्य इस देश में सदा आदर्श रहे हैं। यह बात अलग है कि इन मूल्यों का रूप मध्य काल में रीति रिवाजों के शिकंजे में इतना बदल गया है कि केवल लकीर पीट कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानने वाले लोग भी पैदा होने लगे। सत्य ईश्वर का रूप है यह गांधीजी ने कहा था। ठीक यही परम्परा इस देश के उत्तरी और पूर्वी भागों में सत्यनारायण की पूजा के प्रतीक रूप में शताब्दियों से प्रतिष्ठित थी। आज भी सत्यनारायण की कथा पूर्णिमा के दिन घर घर होती है। यह अवश्य दुर्भाग्य की बात है कि घर पर सत्यनारायण की कथा सुन कर जाने के बाद दुकान पर बठ कर वही भक्त सफेद झूठ को भुनाकर धनपति बनना चाहता है। शायद वैसा ही धन वह ऐसी पूजा और कथाओं म भी लगाता है। धर्म का केवल आकारिक रूप रह जाना पुरानी संस्कृतियों का एक स्वाभाविक दुखद लक्षण होता है यह 'धर्म दर्शन' नामक शास्त्र के विद्वान् बतलाते हैं।

धर्म

'केवल आकारिक (फार्मल) और दिखावे वाला धर्म आदर्श नहीं है, जीवन मे उसका आचरण ही वास्तविक लक्ष्य है" इस बिंदु पर महाभारत म एक बहुत मार्मिक कथा (शांति पर्व मे) मिलती है। महाभारत महाकाव्य माना जाता है पुराण नहीं, पर वह पुराणों का नवनीत है। इसलिये उस समय के मूल्यों का प्रतिबिम्ब इसमे स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलता है। जाजलि नामक ऋषि तपस्या और

शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी जब किसी से यह सुनते हैं कि काशी के एक वैश्य तुलाधार को देश म धम पर अधिकृत विद्वान माना जा रहा है तो उन्हें आश्चय और कुण्ठा होती है। वे काशी जाकर उससे मिलते हैं उसके जीवन का पयवेक्षण करते हैं। वश्य होने पर भी वह जाजलि को धम का उपदेश देता है और बताता है कि पुस्तको मे धम खोजने की बजाय आचरण मे धम देखना उसने जीवन मे अपनाया है। वाणिज्य म सम्यक आचरण, सत्य वाणी और उदात्त व्यवहार ही उसका धम है। व्यावहारिक जीवन मूल्यो को धम का आदश मानने की इसी धारणा को तुलाधार की कथा मे हम प्रतिफलित देखते हैं। वह वश्य होते हुए भी ऋषि जाजलि को धम का उपदेश करता है और धम पर 'आथोरिटी" माना जाता है। महाभारत के शाति पव मे इस उपदेश के तीन चार अध्य म बहुत मार्मिक हैं जिनके शब्द सच्चे अर्थों में क्रातिकारी कहे जा सकते हैं। तुलाधार स्पष्ट करता है कि केवल बाह्य या दृष्ट धम अर्थात् यज्ञ करना, मदिर जाना धमशाला बनवाना या दान का दिखावा करना क्या सच्चे अर्थों मे धम है? यदि चोरी से या हत्या से प्राप्त विपुल धन के द्वारा यज्ञ का सामान इकट्ठा किया जाये अथवा जोर जबदस्ती से या बुरे साधनो से धन लाकर मदिर बनाया जाये या जीवन भर कुकम द्वारा धनपति बन कर दान का दिखावा किया जाये तो ऐसा धम क्या सचमुच धम है? पूजा पाठ या रीति रिवाजो का धम सच्चा धम है या तकपूण और उद्देश्यपूण आचरण धम है? इसका मम इस उपदेश मे समझाया गया है। इसका एक वाक्य आज तक मेरी स्मृति से नहीं उतर पा रहा है जिसम बताया गया है कि हमारे यहा कोई भी धम बिना किसी वज्ञानिक या सामाजिक उद्देश्य के नहीं है। "नाकारण हि शास्त्रेऽस्ति धम सूक्ष्मोपि जाजले"। क्या धम का यह आदर्श आज भी प्रासगिक नहीं है?

सत्य

हमारे यहा सत्य का व्यावहारिक पक्ष भी ओझल नहीं किया गया है। जिस प्रकार पाश्चात्य देशो मे "एवरी थिंग इज फेयर इन लव एण्ड वार" कहा जाता है उसी प्रकार महाभारत के युद्ध म युद्ध नीति के तकाजे से जब युधिष्ठिर अश्वत्थामा हत कहता है किंतु सत्य को नहीं छुपाने के लिए 'नरो वा कुजरो वा' भी कह देता है तो इसमे सत्य का सद्धातिक पक्ष और व्यावहारिक पक्ष दोनो स्पष्ट दिखलाई देने लगते हैं।

अहिंसा

अहिंसा पर भी पहले से ही हमारा दृष्टिकोण यही रहा है जो आज विश्व की राजनीति म हम प्रतिपादित करते हैं। हम अपनी ओर से कभी भी किसी भी कीमत

पर हिंसा का आश्रय नहीं लेंगे किन्तु हमारी अहिंसा नपुंसकता का पर्याय नहीं है। अहिंसा का अक्षरशः आचरण करने पर भी यदि कोई अकारण हम पर हिंसा थोप देता है या आक्रमण कर देता है तो उसका करारा जवाब देने में हमारी अहिंसा बेड़ी नहीं बनती। ठीक यही बात हमारा इतिहास युगों से कहता है। हमारा सबसे बड़ा दर्शन ग्रन्थ गीता हिंसा और अहिंसा के गहरे मानसिक द्वन्द्व से ही तो पैदा हुआ है। अर्जुन को हिंसा करने में जो हिचकिचाहट होती है, उसी के कुछ क्षणों में गीता की वाणी उसके लिये आवश्यक हो जाती है। जब उसके तर्क उसे बताते हैं कि हमने और हमारी नीति के प्रतिपादक कृष्ण ने कौरवों से संधि के पूरे प्रयत्न कर लिये हर तरह के समझौते के लिये हम तैयार थे किन्तु कौरवों ने किसी भी प्रकार न्याय का मार्ग अपनाना नहीं चाहा तभी तो युद्ध के सिवा कोई चारा नहीं रह गया।

सेवा

पुराणों के समय में जो महापुरुष विभिन्न मूल्यों के आदर्शों के रूप में प्रतिष्ठित थे उन्हें हम देवता मान कर केवल पूज लेते हैं उनके व्यक्तित्व में निहित मूल्यों को नहीं देखते। आज के परिवेश में उनमें से अधिकांश मूल्य बिल्कुल सटीक बैठेंगे। एक दिलचस्प उदाहरण मुझे हनुमान का लगता है। वे लोक सेवक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आज के राज्य सेवक उनसे और तरह की प्रेरणा लें या न लें किन्तु एक घटना से आज की सार्वजनिक सेवाओं का वह आदर्श स्पष्ट होता है जिसे हम परिणाममूलक अथवा फलोन्मुख सेवा अर्थात् रिजल्ट ओरिएण्टेड कहते हैं। राम-रावण युद्ध में लक्ष्मण शक्ति के प्रहार से मूर्छित हो जाते हैं। तुरन्त उनका उपचार आवश्यक हो जाता है, अन्यथा उनका जीवन नहीं बच सकेगा। उसी समय राम की सेना के शल्य विशेषज्ञ सबसे बड़े सर्जन सुषेण वानर को लाया जाता है जो यह बताता है कि यदि जल्दी लक्ष्मण को स्वस्थ करना है तो चार प्रकार के आपरेशन अभी करने होंगे। शल्य निकालना होगा घाव भरने की विशेष ड्रेसिंग करनी होगी, त्वचा का संधान यानी स्किन ग्राफ्ट करना होगा और हृदय मजबूत करने की दवा देनी होगी। बाल्मीकीय रामायण में ठीक इन्हीं चार कार्यों के लिये सुषेण चार औषधियाँ बतलाता है जिनके नाम से ही यह अनुमान हो जाता है कि ये चारों उच्चतम शल्यक्रियाओं की अवधारणाएँ उस समय अवश्य रही होंगी। वैसे भी उन्नत चिकित्सकीय कार्यों की अवधारणा का समय था वह। सुषेण विशल्य करणी, सावर्ण्यकरणी, सन्धानी और संजीव करणी इन चार औषधियों को द्रोणाचल से तुरन्त लाने को कहता है। हनुमान तुरन्त भेजे जाते हैं। वहां जाकर उन्हें लगता है कि इस पर्वत पर यह चार जड़ी बूटियां कहां कहां लग रही हैं और कौन कौन सी हैं इनका पता लगाना असम्भव है। इसके लिये तो किसी विज्ञानी व वैद्य को

साथ लाना चाहिये था। उनका उस समय का चिन्तन रामायण मे विस्तार से बताया गया है। वे सोचते हैं कि यदि मैं लौट कर सुषेण को यहां लाता हूं ताकि वह ये बूटिया खोज सके तो इतना समय लग जायेगा कि हमारा उद्देश्य पूरा नही होगा। फिर क्या करना चाहिये ? आखिरकार वे पर्वत के ऊपर के उस पूरे शिखर को ही उठा कर सुषेण के पास ले आते हैं जिस पर इन औषधियो की सम्भावना लगती है। सुषेण उनमें से औषधियां चुन लेता है और लक्ष्मण स्वस्थ हो जाते हैं। यहा यह स्पष्ट है कि 'वर्क टू रूल' के हिसाब से हनुमान द्रोणाचल तक जाकर यह कहने वापिस आ जाते कि दवाओ का पता नहीं चल रहा है तो उसका टी ए डी ए तो पूरा हो ही सकता था क्योकि आखिर विशेषज्ञ के बिना यह काम कैसे होता ? किन्तु इससे केवल सेवा की खाना पूरी होती, रिजल्ट ओरिएण्टेड सेवा नहीं होती। पौराणिक प्रसगो की आज के सन्दर्भो मे ऐसी सार्थकता थोड़े गहरे चिन्तन से स्पष्ट होने लगती है और यह भी लगने लगता है कि पुराने आधार आज भी कही उतने ही प्रासगिक हैं।

जनतांत्रिक मूल्य

यहा तक भी इस बिन्दु को ले जाया जा सकता है कि पुराणो के समय राजतत्र था, प्रजातत्र शाब्दिक अर्थों मे इस देश मे नही था, फिर भी लोक कल्याण के आज के आदर्श उस समय भी मान्य थे। राजा का पद राजा के बडे पुत्र को मिलता था जिसे "प्राईमोजेनीचर" का सिद्धान्त कहते हैं। कि तु यह सिद्धान्त रिवाज नही बना था। उसकी कसौटी प्रजा का विधिसम्मत पालन ही था। यदि इस कसौटी पर बडा पुत्र खरा नही उतरता था तो छोटा पुत्र राजा बनता था। शन्तनु छोटा भाई था, देवापि बडा भाई था किन्तु योग्यता के कारण शन्तनु राजा बना। वेन और नहुष दोनो ऐसे राजा थे जो अत्याचार करते थे। बुद्धिजीवियो और विधि सम्मत आदर्शों का तिरस्कार करते थे। उन्हें ऋषियो के बहुमत से हटा दिया गया। आज विश्व के विकसित जनतान्त्रिक देशो मे ऐसी घटनायें सुनने को मिलती हैं कि कभी किसी मत्री के चरित्र पर बहुत बडा लाछन जनमत ने लगा दिया तो उसे इस्तीफा देना पडा। लोक दृष्टि मे छवि के गिर जाने और जनमत विपरीत हो जाने के कारण बडे-बडे देशो के राष्ट्रपति तक को हटना पडता है। यह जनतन्त्र का स्वस्थ लक्षण बताया जाता है। यह मूल्य हमे उस समय भी मिलता है जब राम को यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष है उसे कुछ वर्षों के लिये इसलिये निर्वासित कर देना पडता है कि लोकमत विपरीत हो रहा है, यह अफवाह फल रही है कि सीता इतने वर्षों तक रावण के यहा रह कर आयी है फिर भी उसे पटरानी क्यो बनाये रखा जा रहा है। राम कथा मे सब जगह राम की यह उक्ति मिलती है कि निर्दोष होने पर भी मैं केवल इसलिये सीता का त्याग कर रहा हू कि राजा और

उसके परिवार को सन्देहों से परे होना चाहिये। अंग्रेजी की कहावत सीजर्स वाइफ शुड बी एबव ससपीशन" ऐसी जगह याद आ जाती है।

सत्कर्म बनाम जन्म

हमारी पुरा कथाओं में यद्यपि कुछ पुराणपंथी और दकियानूसी तत्व भी हैं, ऐसी अनेक कथायें भी हैं जो केवल आडम्बर ही कही जा सकती हैं किन्तु उनमें वे आदर्श भी अन्तर्निहित हैं जो शाश्वत मूल्यों के प्रतीक हैं। इसका एक उदाहरण वर्ण व्यवस्था है। यद्यपि सामाजिक विभाजन के कारण बुद्धिजीवी या ब्राह्मण का स्थान ऊपर था, प्रशासक या क्षत्रिय तथा व्यापारी या वैश्य का स्थान अपनी अपनी जगह था और सेवक या शूद्र का स्थान कुछ नीचा माना जाता था फिर भी प्रत्येक युग में ऐसे प्रसंग अवश्य मिलते हैं जिनमें यह स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक ऊंच नीच कर्मों पर आधारित थी। उदात्त कर्मों के कारण कवष ऐलूष जैसे शूद्र को ऋषि मान लिया गया था। राम ने शबरी के बेर खाये थे यह भी सुप्रसारित बात है। महाभारत के विदुर को नीति का सबसे बड़ा उपदेशक माना गया। हमारा यह पौराणिक आदर्श आज भी प्रासंगिक है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उनका निर्वचन आज के सन्दर्भों में करने का प्रयत्न किया जाए। ऐसा करके ही इस तथ्य को नई पीढ़ी को हृदयंगम कराया जा सकता है कि हमारी समाजव्यवस्था इतनी दकियानूस नहीं है जितनी कभी-कभी बता दी जाती है।



गाँधी, गीता और यज्ञ

यज्ञ का नाम सुनने पर जन साधारण के मस्तिष्क मे जो चित्र इसके प्राचीन अर्थ के बारे मे बन सकता है वह कुछ इस प्रकार का होता है कि एक वेदी के चारो ओर बैठे हुए ऋत्विक और आचार्य आग मे घी, चावल, जौ तिल, वगरह डाल रहे है जोर-जोर से वेदो का पाठ हो रहा है, ब्राह्मण भोजन हो रहा है इत्यादि। यज्ञो का स्वरूप पिछले दिनो इस प्रकार का इसलिये मान लिया जाता रहा कि शतचण्डी यज्ञ, विष्णु यज्ञ आदि जिन बडे बडे महायज्ञों का पडितो द्वारा सार्वजनिक अनुष्ठान किया जाता था उनमे दर्शको को कुछ इस प्रकार का दृश्य ही देखने को मिलता था। प्राचीन भारत मे यज्ञ का केवल यही स्वरूप और अर्थ हो ऐसी बात नही है। यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य देवताओ या पितरो को प्रसन्न करना हुआ करता था और इस उद्देश्य से किया गया कोई भी अनुष्ठान चाहे उसमे अग्नि की मौजूदगी हो या न हो, आहुतिया हो या न हो यज्ञ कहा जाता था। वेदो के विज्ञानवादी व्याख्याकारो का तो कहना है कि यज्ञ विज्ञान की खोज के उपक्रम का ही नाम था। यज्ञशालाए प्रयोगशालाओ की तरह शोधशालाए हुआ करती थी।

प्राचीन काल मे यज्ञ सार्वजनिक हित के लिये किये गये उत्सव के रूप मे मनाया जाता था। विद्वानो का कहना है कि फारसी शब्द जश्न और सस्कृत यज्ञ एक ही मूल धातु से बने हैं। यज्ञ की प्रक्रिया मे पशुबलि की प्रथा भी चल पडी जिसका विरोध बुद्ध काल मे हुआ। बाद में किसी भी मगलकारी अनुष्ठान को यज्ञ कहा जाने लगा।

इस प्रकार युगों युगो मे यज्ञ के अर्थ और स्वरूप बदलते रहे हैं। आधुनिक युग मे भारतीय समाज की पुनर्जागृति देश के स्वातन्त्र्य सग्राम की लहर के साथ पनपी और नये युग की प्रबुद्ध मान्यताओ के आलोक में मनीषी विचारको ने हमारे धार्मिक, सामाजिक और राजनतिक मूल्यो को नई दिशा दी। भारतीय समाज दर्शनो की इस क्रांति मे हमारे गौरव ग्रथ गीता की देन बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। तिलक ने

इसे कर्मयोग का मूल मत्र बतलाया तो महात्मा गाधी ने इसे अनासक्तियोग का आधार ग्र थ कहा। गाधी जी के जीवन दर्शन के निर्माण मे गीता का प्रमुख योगदान रहा है। गीता दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो को उन्होने अपनी धर्मनीति और राजनीति मे भी क्रियान्वित कर अपने नेतृत्व मे भारतीय मूल्यो का सुवास सजोया था।

गीता को इसीलिये, वे माता कहते थे। उन्होंने गुजराती मे गीता का सरल भावार्थ भी लिखा जिसमे गीता की विभिन्न धार्मिक सज्ञाओ को उन्होंने अपने समाज दर्शन के अनुरूप नये आयाम दिये। सन् 1930 मे यरवदा जेल के दिनो की इस कृति को 'गीता माता' के नाम से ही उन्होने पुकारा। इसी मे उन्होंने यज्ञ की प्राचीन परपरा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सार्वजनिक कल्याण के लिये ऋषि मुनि यज्ञ किया करते थे—जो नित्य कर्तव्य बतलाया गया है—उसी प्रकार प्रत्येक अनासक्ति—योगी को प्रतिदिन यज्ञ करना चाहिये—अर्थात् परोपकार के लिये, अपना स्वार्थ छोड कर कोई पुण्य कार्य प्रतिदिन करना चाहिये। इस यज्ञ से मनुष्य कर्मबन्धन मे लिप्त नही होता—गीता के तीसरे अध्याय मे कहा है—

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्म बन्धन ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त-सग समाचर।
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ-भाविता ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भु क्ते स्तेन एव स ।
यज्ञशिष्टाऽशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भु जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।

इस पर गाधी जी ने यह टिप्पणी की है—

"हम यज्ञ को जन्म के साथ ही लाये हैं। यहा तक कि हमे यह शरीर केवल परमार्थ के लिये मिला है और इसलिये यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का खाता है—ऐसी सख्त बात गीताकार ने कह डाली। हमारे यज्ञ सहित जन्मने का मतलब है कि हम हर दम के ऋणी या देनदार हैं। इसलिये हम जग के सदा के गुलाम हैं और जसे स्वामी गुलाम को सेवा के बदले मे खाना, कपडा आदि देता है वसे हमे जगत् का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिये जो अन्न वस्त्रादि देता है वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिये। कुछ न कुछ निस्वार्थ सेवा हम सब जाने अनजाने मे करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने से हमारी पारमार्थिक सेवा की वृत्ति उत्तरोत्तर

पड़ेगी। उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिससे जीवों का अधिक से अधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो कम अधिक से अधिक मनुष्य अधिक से अधिक सरलता से कर सके और जिसमें अधिक से अधिक सेवा होती है वह महा यज्ञ है या अच्छा यज्ञ है।' (गीताबोध)

गांधी जी द्वारा दिये गये यज्ञ के इस अर्थ का उद्देश्य स्पष्ट है जिसके प्रति सजग होने की प्रेरणा उन्होंने सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को अपने जीवन द्वारा भी दी। प्रतिदिन कोई न कोई ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे जग का यह कर्ज चुक जाए या अपनी आवश्यकता भर के लिये अन्न वस्त्र लेकर बाकी का त्याग कर देना महायज्ञ है—इस प्रकार के दैनिक महायज्ञों में सबसे पहला जो यज्ञ इस परिभाषा के अनुसार गांधी जी ने अपने जीवन में उतारा वह था चर्खा यज्ञ। 'यज्ञशिष्टाशिन सन्तो' के सही अर्थों में प्रतिदिन थोड़ा सूत कातना, जिसमें से आवश्यकता भर को खुद के लिये लेना, बाकी का त्याग करना गांधी जी ने अपना नियम बना लिया था। इस चर्खा यज्ञ के बारे में गांधी जी ने अपने पत्रों में विस्तार से लिखा है। उनके अनुसार चर्खा यज्ञ में इतनी तन्मयता होनी चाहिये जैसी तन्मयता में रोने रोलाँ रहते हैं या बीटोवन पियानो बजाते समय तन्मय हो जाते हैं। चर्खा यज्ञ, मौन यज्ञ आदि यज्ञों के बहुत से याज्ञिक गांधी जी ने किस प्रकार बनाये यह सुविदित है।

यज्ञ के अर्थों में विस्तार की यह परंपरा गांधी जी की देन थी। उसी क्रम में आज हम भू दान यज्ञ ग्रामदान यज्ञ आदि सर्वोदयी आन्दोलनों के संदर्भ में इस शब्द का गौरव सहित उपयोग करते हैं क्योंकि सार्वजनिक हित के कार्यों में गीता द्वारा उपदिष्ट यज्ञ का स्वरूप देखने की यह धारणा गांधी जी के सर्वोदयी विचारों के अनुरूप है। स्वराज्य आन्दोलन के प्रारंभिक दिनों से ही इस विचार-धारा पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। एक स्थान पर उन्होंने याज्ञिक को सेवक बतलाया है। वे लिखते हैं—

'यज्ञ करने वाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से करते हैं, अतः लोगों से आवश्यकता भर को और अनावश्यक भी लेने का हम परवाना मिल गया है। जहां किसी सेवक के मन में यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई सेवा में अपनी सुविधा के विचार की गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवक की सुविधा स्वामी ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिये कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे। आवश्यकता भर को ही ले बाकी का त्याग करे। अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शांत रहे, रोष न करे, मन में खिन्नता भी न लावे। याज्ञिक का बदला सेवक की मजदूरी यज्ञ सेवा ही है।' (गीताबोध यज्ञ)

बापू के इन विचारों का मूल उद्गम गीता के चतुर्थ अध्याय में है, यह इन श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्,
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ।
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।
द्रव्ययज्ञा स्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।
सर्वेप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।

कहना न होगा कि यज्ञ की इस प्रकार की व्याख्या जो गीता में की गई, अपने आप में युगान्तरकारी और क्रान्तिकारी थी । "कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्" से यह स्पष्ट किया गया कि समस्त यज्ञ कर्म पर आधारित है । समाज द्वारा अलग अलग लोगों के लिये निर्धारित कर्म ही यज्ञ है । "नियतं कुरु कर्म त्वम्" । उस यज्ञ की पूंजी समाज की है—यज्ञ से जो बचता है वह याज्ञिक ले सकता है—"यज्ञ शिष्टामृत भुज" और "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः" का यह प्रमुख सिद्धान्त गांधी जी की अर्थनीति का भी प्रेरक तत्त्व रहा है।

गांधी जी ने इसका अर्थ भी इस प्रकार किया है—"सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है । अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है । जीवमात्र श्रम जीवी है । कोई पड़े पड़े नहीं खा सकता ।'

× ×

"यहाँ कर्म का व्यापक अर्थ है अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक । ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता । यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना इसका नाम यज्ञों को जानना है ।

"तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभुप्रीत्यर्थ लोक सेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता। केवल बुद्धि शक्ति को ही काम में लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं होता है।" (गीता भावार्थ टिप्पणी अनासक्ति योग)

श्रम सेवा और यज्ञ का यह समन्वय गांधी जी द्वारा गीता के उपदेशों के मन्थन से निकाला हुआ एक विचार रत्न है।

यज्ञ के पारंपरिक अर्थ में थोड़ा रूपांतर कर उन्होंने इसे किस प्रकार युग की समाज नीति और आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला और स्वयं गीता की उक्तियों और भावनाओं से उसका तादात्म्य सिद्ध किया यह उनके प्रवचनों और पत्रों से स्पष्ट है।

